कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,५९,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९९, नवम्बर १९७३

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—श्रीरामसे भरतकी प्रार्थना [संकलित—वाल्मीकि-रामायण] ...	१०४१
२—कल्याण ('भाईजी') ...	१०४२
३—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश ...	१०४३
४—शिक्षा [संकलित—स्वामी विवेकानन्द]	१०४५
५—ओंकारकी महिमा (महात्मा श्रीसीताराम ओंकारनाथजी) ...	१०४६
६—एक महात्माका प्रसाद ...	१०४८
७—'प्रेम तू लगाउ सुखधाम घनस्याम सौं' [कविता] (सं०—श्रीदीनदयालगिरि)	१०५०
८—परमार्थकी पगडंडियाँ [नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन] ...	१०५१
९—परमपुरुष वासुदेवको पानेका सुगम उपाय—हरिनाम (डा० श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०) ...	१०५४
१०—बंगालमें वैष्णव-धर्मकी धारा (श्रीरासमोहन चक्रवर्ती एम्० ए०, पी-एच्० डी०, पुराणरत्न)	१०५६
११—आस्तिकताकी आधारशिलाएँ ...	१०६३
१२—डायरी—आत्मशोधनका एक साधन (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ...	१०६४
१३—क्या शान्त-रसमें भक्ति-रसका अन्तर्भाव सम्भव है ? (डा० श्रीसुवालालजी उपाध्याय 'शुकरत्न', पी-एच्० डी०, साहित्याचार्य, शिक्षा-शास्त्री) ...	१०६७
१४—रामभक्त श्रीवनादास (डा० श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ...	१०७१
१५—आज देशको सच्चा आस्तिक चाहिये (श्रीजयकान्तजी झा) ...	१०७६
१६—हम अपना आत्मबल कैसे बढ़ायें (डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ...	१०७९
१७—चेतावनी ! [कविता] (संकलित—श्रीसूरदासजी)	१०८०
१८—वैदिक वाङ्मय (डा० श्रीकोशलेशजी भारद्वाज, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	१०८२
१९—'कवितावली' का एक भावपूर्ण सवैया (श्रीरामाश्रयप्रसादसिंहजी) ...	१०८५
२०—जिज्ञासुओंके प्रति निवेदन (चिम्मनलाल गोस्वामी)	१०८८
२१—पढ़ो, समझो और करो ...	१०९०

चित्र-सूची

१—भगवान् वराह	(रेखाचित्र) ...	मुखपृष्ठ
२—पादुकाके लिये प्रार्थना करते हुए श्रीभरत	(तिरंगा) ...	१०४१

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
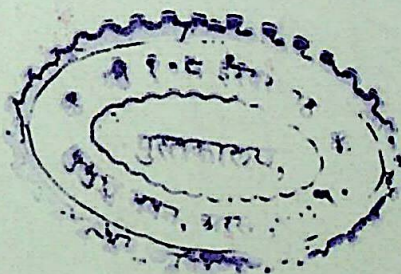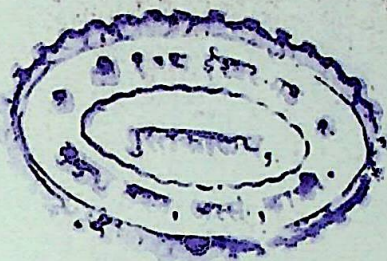
पादुकाके लिये प्रार्थना करते हुए श्रीभरत

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
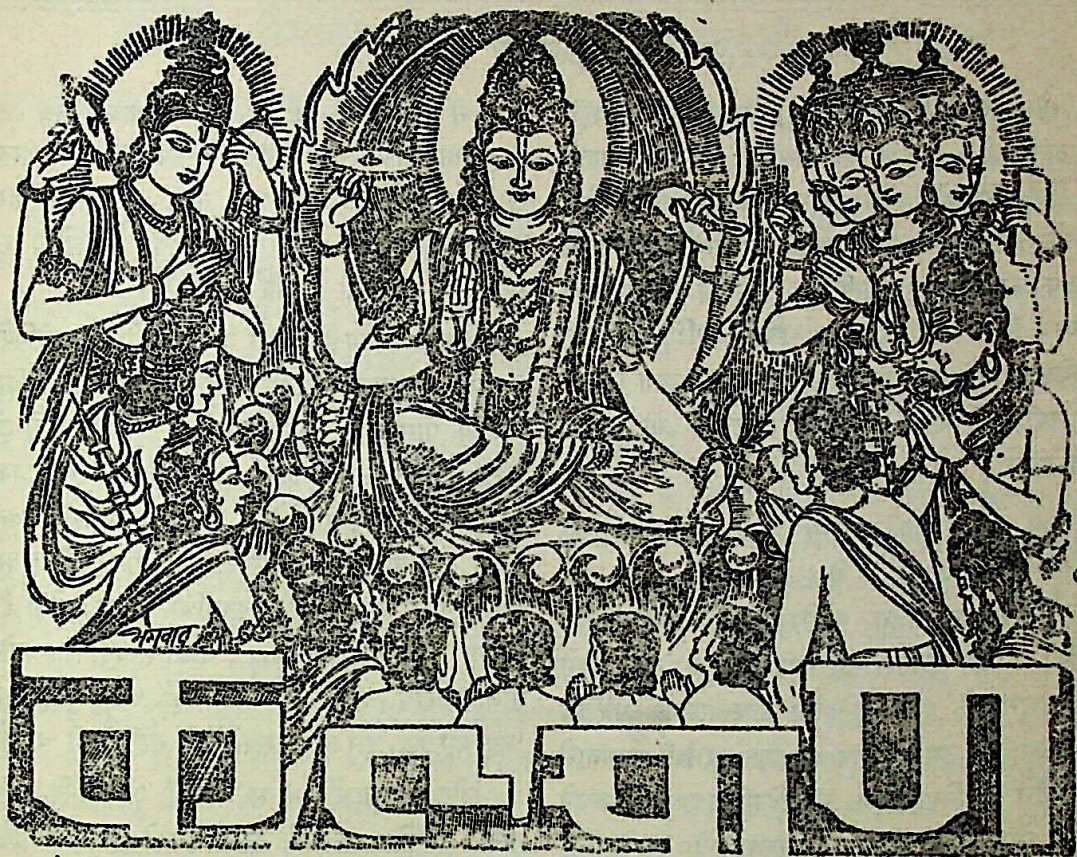
अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने । सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे ॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शंकराय च । वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे ॥

(श्रीविष्णुपुराण १ । २ । १-२)

वर्ष ४७ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९९, नवम्बर १९७३ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ५६४

श्रीरामसे भरतकी प्रार्थना

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥

(वाल्मीकि-रामायण २ । ११२ । २१)

'आर्य ! ये दो स्वर्णभूषित पादुकाएँ आपके चरणोंमें अर्पित हैं; आप इनपर अपने चरण रखें । ये ही सम्पूर्ण जगत्के योग-क्षेमका निर्वाह करेंगी ।'

कल्याण

भोग तथा भोगि-जगत्का सङ्ग परमार्थके लिये बहुत ही घातक है। इसलिये जो यथार्थतः परमार्थ चाहते हैं, उन्हें अपनेको इनसे सर्वथा दूर रखना चाहिये। जिनके पास भोग-बाहुल्य है, उनके साथ रहनेसे ही मनुष्यमें भोग-कामना जाग्रत् होती है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम है—अशान्ति, दुःख, ईर्ष्या आदि; और जहाँ ये विकार मनमें उत्पन्न हुए कि मनुष्यका पतन हुआ। इतना ही नहीं, भोगियोंका साथ प्रत्यक्षरूपमें भी घातक सिद्ध होता है।

कुछ वर्ष पूर्वकी घटना है। बाराबंकी जिलेके जंगलमें एक साधु रहते थे। वे बड़े ही विरक्त तथा एकान्तमें रहकर भजन करनेवाले थे। थोड़े दिनोंमें लोगोंको उनकी जानकारी हो गयी और वे उन्हें घेरने लगे। कानपुरके एक धनिकको साधु-बाबाका परिचय प्राप्त हुआ; वे उनसे विशेष धन प्राप्त करनेकी कामनासे वहाँ पहुँचे। धनिक व्यक्ति जब किसी महात्माको अपने प्रभावमें लेना चाहते हैं, तब आरम्भमें वे उनके लिये कुछ खर्च करते हैं। कानपुरके धनिक-बन्धुने भी ३०-४० हजार रुपये अपने साथ लिये और सोचा कि 'महाराजजीको अपनी सेवासे संतुष्ट करें और उनसे प्रचुर धन प्राप्त करें।' रुपये साथ ले जानेकी बात गुण्डोंको ज्ञात हो गयी। वे सेठजीके पीछे लग गये। सेठजी साधु-बाबाकी कुटियापर पहुँचे और वहाँ दो-तीन दिन रहे। डाकू भी ताक लगाये थे। साधुबाबाने सेठजीके पैसेको महत्त्व नहीं दिया; बेचारे सेठजी निराश हो अपना पैसा लेकर लौट गये। परंतु डाकुओंको भ्रम हो गया कि सेठजी रुपये साधुबाबाके पास ही छोड़ गये हैं। रातको वे उनके पास पहुँचे और उनसे रुपये माँगने लगे। साधुबाबाने स्पष्ट बता दिया कि 'उन्होंने सेठजीके रुपये देखेतक नहीं।' परंतु डाकू उनकी बातका क्यों विश्वास करने लगे? उन्होंने तत्काल साधुबाबाकी हत्या कर दी। इस प्रकार धनकी ओर न ताकनेपर भी धनिक व्यक्तिका सङ्ग उन साधुबाबाके विनाशका हेतु हो गया। हम गम्भीरतासे विचार करें तो ऐसे एक नहीं, अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं, जहाँ भोग एवं भोगियोंका सङ्ग सर्वनाशमें हेतु बना है और बनता है।

साधकका कर्तव्य है कि वह अपनेको भोग तथा भोगियोंसे दूर रखे; चुपचाप अपनी साधनामें लगा रहे। किसी व्यक्तिके पास बहुत अधिक सम्पत्ति है और उसे लोग दरिद्र मानें तो उसकी इसमें क्या हानि है? इसी प्रकार किसीके पास धन न होनेपर भी यदि लोग उसे 'धनी' कहने लगें तो उससे उसको कोई लाभ नहीं। वस्तु अपने पास रहनेसे ही वास्तविक लाभ होता है। अतएव साधकको चुपचाप भजन-सम्पदाको बटोरते रहना चाहिये। लोग उसे 'भक्त' कहें, 'साधु पुरुष' कहें, 'महात्मा' कहें, इस ओर उसकी दृष्टि नहीं रहनी चाहिये।

लोग महात्माओंके पास जाते हैं और भाँति-भाँतिके भोगों—भौतिक साधनोंके द्वारा उनको रिझानेकी चेष्टा करते हैं; पर उन सबके पीछे कामना रहती है अधिक भोग प्राप्त करनेकी। महात्मालोग उनके प्रभावमें आकर यदि आशीर्वाद-वरदान देने लगें तो उनका तप नष्ट होता है। बार-बार आशीर्वाद-वरदान देनेसे तपकी सम्पत्ति समाप्त हो जाती है और यदि उनके पास तपकी सम्पत्ति न हो तो झूठे वरदान देनेके कारण थोड़े दिनोंमें उनकी कलई खुल जाती है और दम्भका आश्रय लेनेके परिणामस्वरूप उनके लिये नरकोंकी प्राप्तिका पथ प्रशस्त हो जाता है। अतएव तपकी सम्पत्ति रहने तथा न रहने—दोनों ही स्थितियोंमें भोगियों तथा उनके द्वारा प्रदत्त भोग-सेवासे बचना आवश्यक है। महात्माओंके लिये जब ऐसी बात है, तब साधारण साधकके लिये—जो अभी भगवान्की ओर बढ़नेका प्रयत्न ही कर रहा है—भोगों तथा भोगि-जगत्से सावधान रहना नितान्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। 'भाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

सत्पुरुषोंकी शरण ग्रहण करके उनके कथनानुसार साधन करनेमें तत्पर होवें

जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषका स्वप्नके संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही अज्ञान-निद्रासे जगे हुए पुरुषका भी मायाके कार्यरूप अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। यद्यपि लोकदृष्टिमें उस ज्ञानी पुरुषके शरीरद्वारा प्रारब्धसे सम्पूर्ण कर्म होते हुए दिखायी देते हैं एवं उन कर्मोंद्वारा संसारमें बहुत ही लाभ पहुँचता है; क्योंकि कामना, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमानसे रहित होनेके कारण उस महात्माके मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए आचरण लोकमें प्रमाणस्वरूप समझे जाते हैं और ऐसे पुरुषोंके भावसे ही शास्त्र बनते हैं, परंतु यह सब होते हुए भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवको प्राप्त हुआ पुरुष तो इस त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है; इसलिये वह न तो गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और निद्रा आदिके प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्ति होनेपर उनकी आकाङ्क्षा ही करता है; क्योंकि सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान और निन्दा-स्तुति आदिमें एवं मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदिमें सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है। इसलिये उस महात्माको न तो किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियकी निवृत्तिमें हर्ष होता है, न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि उस धीर पुरुषका शरीर किसी कारणसे शस्त्रोंद्वारा काटा भी जाय या उसको कोई अन्य प्रकारका भारी दुःख आकर प्राप्त हो जाय तो भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवमें अनन्यभावसे स्थित हुआ पुरुष उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता; क्योंकि उसके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण संसार मृगतृष्णाके जलकी भाँति प्रतीत होता है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीका भी होनापना नहीं भासता। विशेष क्या कहा जाय, वास्तवमें उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका भाव वह स्वयं ही जानता है। उसको मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करनेके लिये किसीकी भी सामर्थ्य नहीं है। अतएव जितना शीघ्र हो सके, अज्ञान-निद्रासे चेतकर त्यागद्वारा परमात्माको प्राप्त करनेके लिये सत्पुरुषोंकी शरण ग्रहण करके उनके कथनानुसार साधन करनेमें तत्पर होना चाहिये।

अनन्य शरणागतिका स्वरूप

शास्त्रोंमें शरणागतिकी महिमाके असंख्य प्रमाण वर्तमान हैं। परंतु विचारणीय विषय तो यह है कि 'शरणागति' वास्तवमें किसे कहते हैं। केवल मुखसे कह देना—'हे भगवन्! मैं आपके शरण हूँ'—शरणागतिका स्वरूप नहीं है। साधारणतया शरणागतिका अर्थ किया जाता है—मन, वाणी और शरीरको सर्वतोभावसे भगवान्‌के अर्पण कर देना; परंतु यह अर्पण भी केवल **'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'** कह देनेमात्रसे सिद्ध नहीं हो सकता। यदि इसीमें अर्पणकी सिद्धि होती तो अवतक न मालूम कितने भगवान्‌के शरणागत भक्त हो गये होते। इसलिये यह समझना चाहिये कि 'अर्पण' किसे कहते हैं।

शरण, आश्रय, अनन्यभक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, अवलम्बन, निर्भरता और आत्मसमर्पण आदि शब्द एक ही अर्थके बोधक हैं।

एक परमात्माके सिवा किसीका किसी भी कालमें कुछ भी सहारा न समझकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर, शरीर और संसारमें अहंता-ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही अपना परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्यभावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना और भगवान्‌का भजन-स्मरण करते हुए ही उनके आज्ञानुसार समस्त कर्तव्यकर्मोंका निस्स्वार्थभावसे केवल भगवान्‌के लिये ही आचरण करते

रहना—यही 'सब प्रकारसे परमात्माके अनन्यशरण' होना है ।

इस शरणागतिमें प्रधानतः चार बातें साधकके लिये समझनेकी हैं—

१–सब कुछ परमात्माका समझकर उसके अर्पण करना ।

२–उसके प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना ।

३–उसके आज्ञानुसार उसीके लिये समस्त कर्तव्य-कर्म करना ।

४–नित्य-निरन्तर स्वाभाविक ही उसका एकतार स्मरण रखना ।

साधक थोड़ा-सा साधन करके क्यों रुक जाते हैं

अधिकांश लोग केवल धन, स्त्री और पुत्रादि विषयजन्य सुखको ही परमसुख मानकर उसीमें मोहित रहते हैं । असली सुखके लिये यत्न करनेवाले कर्तव्यपरायण पुरुष तो कोई विरले ही निकलते हैं । श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥
(गीता ७ । ३)

'हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है ।'

भगवान्‌के कथनानुसार आजकल भी जो कुछ थोड़े-बहुत सज्जन इस सच्चे सुखको प्राप्त करना चाहते हैं, उनमेंसे भी विरले ही आखिरी मंजिलतक पहुँचते हैं । अधिकांश साधक तो थोड़ा-सा साधन करके ही रुक जाते हैं; वे अपनेको अधिक उन्नत स्थितिमें नहीं ले जा सकते । मेरी समझमें इनके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) संसारमें इस सिद्धान्तके सुयोग्य प्रचारक कम हैं; क्योंकि इसके प्रचारक त्यागी, विद्वान्, सदाचारी, परिश्रमी और सच्चे महापुरुष ही हो सकते हैं ।

(२) साधकगण थोड़ी-सी उन्नतिमें ही अपनेको कृतकृत्य समझकर अधिक साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते ।

(३) कुछ साधक थोड़ा-सा साधन करके उकता जाते हैं । इस साधनसे अपनी विशेष उन्नति न समझकर वे 'किंकर्तव्यविमूढ' हो जाते हैं ।

(४) सच्चे सुखमें लोगोंकी श्रद्धा ही बहुत कम होती है; कारण, विषय-सुखोंकी भाँति इसके साधनमें पहले ही सुख नहीं दीखता । इसीसे तत्परताका अभाव रहता है ।

(५) कुछ लोग इस सुखको सम्पादन करना अपनी शक्तिसे बाहरकी बात समझते हैं, इसलिये वे निराश हो रहते हैं ।

इसके सिवा और भी कई कारण बतलाये जा सकते हैं । परंतु इन सबमें सच्चा कारण केवल अज्ञान और अकर्मण्यता ही है । अतएव मनुष्यको सावधान होकर उत्साहके साथ कर्तव्यपरायण रहना चाहिये ।

भगवान्‌के सिद्धान्तका संसारमें प्रचार करनेवाला सबसे श्रेष्ठ है

संसारमें तीन प्रकारके पुरुष होते हैं—उनमें एक तो ऐसे हैं कि जो न्याययुक्त परिश्रमसे धन कमाकर अपना पेट भरते हैं; दूसरे ऐसे हैं, जो माँगकर क्षेत्रोंसे या सदावर्तद्वारा शरीरका निर्वाह करते हैं और तीसरे ऐसे हैं, जो नित्य सदावर्त बाँटते हैं और सबको खिलाकर खाते हैं । पेट तीनोंका ही भरता है । तुष्टि-पुष्टि भी तीनोंकी ही समानरूपसे होती है । वर्णाश्रमानुसार न्याययुक्त जीविका करनेसे तीनों ही श्रेष्ठ होनेपर भी विशेष प्रशंसाके पात्र वे ही हैं, जो नित्य सबको भोजन कराकर यज्ञशिष्ट अमृतका भोजन करते हैं । इसी प्रकार मुक्तिके विषयमें भी समझना चाहिये ।

जो भजन-ध्यान आदि साधन करके मुक्ति पाते हैं, वे परिश्रम करके पेट भरनेवालोंके समान हैं । जो काशी आदि क्षेत्रोंकी एवं महात्मा पुरुषोंकी शरण लेकर मुक्ति

प्राप्त करते हैं, वे माँगकर शरीर-निर्वाह करनेवालोंके समान हैं। और जो भगवान्‌के देनेपर भी मुक्तिको ग्रहण न करके सबका कल्याण होनेके लिये भगवान्‌के गुण, प्रेम, तत्त्व, रहस्य और प्रभावयुक्त भगवान्‌के सिद्धान्तका संसारमें प्रचार करते हैं, वे सबको खिलाकर भोजन करनेवालोंके समान हैं। यद्यपि सभीका कल्याण होता है और परम शान्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिमें सभी समान हैं, पर इन तीनोंमें यदि किन्हींको ऊँचा दर्जा दिया जाय तो वे ही सबसे श्रेष्ठ ठहरते हैं, जो मुक्तिको भी न चाहकर सबका कल्याण करनेपर ही तुले हुए हैं। ऐसा अधिकार भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। अतएव ऐसे पुरुषोंका सङ्ग मुक्तिसे भी बढ़कर है। ऐसे पुरुषोंकी स्वयं भगवान्‌ने भी गीता अध्याय १८ श्लोक ६८-६९ में श्रीमुखसे प्रशंसा की है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

'जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं।' (संकलित)

शिक्षा

'शिक्षा' विविध जानकारियोंका ढेर नहीं है, जो तुम्हारे मस्तिष्कमें ठूँस दिया गया है और जो आत्मसात् हुए बिना वहाँ आजन्म पड़ा रहकर गड़बड़ मचाया करता है। हमें उन विचारोंकी अनुभूति कर लेनेकी आवश्यकता है, जो जीवन-निर्माण, 'मनुष्य'-निर्माण तथा चरित्र-निर्माणमें सहायक हों। यदि तुम केवल पाँच ही परखे हुए विचार आत्मसात् कर उनके अनुसार अपने जीवन और चरित्रका निर्माण कर लेते हो तो तुम एक पूरे ग्रन्थालयको कण्ठस्थ करनेवालेकी अपेक्षा अधिक शिक्षित हो। यदि शिक्षाका अर्थ जानकारी ही होता, तब तो ग्रन्थालय संसारमें सबसे बड़े संत हो जाते और विश्वकोष महान् ऋषि बन जाते!

विदेशी भाषामें दूसरेके विचारोंको रटकर, अपने मस्तिष्कमें उन्हें ठूँसकर और विश्व-विद्यालयोंकी कुछ पदवियाँ प्राप्त कर, तुम अपनेको शिक्षित समझते हो! क्या यही शिक्षा है? तुम्हारी शिक्षाका उद्देश्य क्या है? या तो मुंशीगिरी मिलना, या वकील हो जाना या अधिक-से-अधिक डिप्टी मैजिस्ट्रेट बन जाना; जो मुंशीगिरीका ही दूसरा रूप है;—बस, यही न? इससे तुमको या तुम्हारे देशको क्या लाभ होगा? नेत्र खोलकर देखो, जो भरतखण्ड अन्नका अक्षय भंडार रहा है, आज वहीं अन्नके लिये कैसी करुण पुकार उठ रही है। क्या तुम्हारी शिक्षा इस अभावकी पूर्ति करेगी? वह शिक्षा, जो जन-समुदायको जीवन-संग्रामके उपयुक्त नहीं बनाती, जो उनकी चारित्र्य-शक्तिका विकास नहीं करती, जो उनमें प्राणिविषयक दयाका भाव और सिंहका साहस पैदा नहीं करती, क्या उसे भी हम 'शिक्षा' का नाम दे सकते हैं?

हमें तो ऐसी शिक्षा चाहिये, जिससे चरित्र बने, मानसिक वीर्य बढ़े, बुद्धिका विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरोंपर खड़ा हो सके। हमें आवश्यकता इस बातकी है कि हम विदेशी प्रभावसे स्वतन्त्र रहकर अपने निजी ज्ञानभंडारकी विभिन्न शाखाओंका और उसके साथ ही अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञानका अध्ययन करें। हमें यान्त्रिक और ऐसी सभी शिक्षाओंकी आवश्यकता है, जिनसे उद्योग-धन्धोंकी वृद्धि और विकास हो, जिससे मनुष्य नौकरीके लिये मारा-मारा फिरनेके बदले अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये पर्याप्त कमाई कर सके और आपत्कालके लिये संचय भी कर सके।

सभी प्रकारकी शिक्षा और अभ्यासका उद्देश्य 'मनुष्य'-निर्माण ही है। सारे प्रशिक्षणोंका अन्तिम ध्येय मनुष्यका विकास करना ही है। जिस अभ्याससे मनुष्यकी इच्छाशक्तिका प्रवाह और प्रकाश संयमित होकर फलदायी बन सके, उसीका नाम है—'शिक्षा'। हम 'मनुष्य' बनानेवाला धर्म ही चाहते हैं, हम 'मनुष्य' बनानेवाले सिद्धान्त ही चाहते हैं तथा हम सर्वत्र सभी क्षेत्रोंमें 'मनुष्य' बनानेवाली शिक्षा ही चाहते हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

ओंकारकी महिमा

(महात्मा श्रीसीताराम ओंकारनाथजी)

विशालविश्वस्य विधानबीजं
वरं वरेण्यं विधिविष्णुशर्वैः।
वसुंधरावारिविमानवह्नि-
वायुस्वरूपं प्रणवं विवन्दे॥

इस विशाल ब्रह्माण्डमें समस्त नर-नारियोंके लिये काम्य एक परमार्थ तत्त्व है। वह तत्त्व है क्या? सब उपनिषदोंमें अनुसंधान करनेपर हमको इसका पता लगता है।

नचिकेताने यमराजसे पूछा था—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥
(कठोपनिषद् १। २। १४)

'धर्मसे अन्य, अधर्मसे भिन्न, कार्य-कारणमय प्रपञ्चसे पृथक् तथा भूत, भविष्य और वर्तमानसे भी भिन्न जिस वस्तुको आप प्रत्यक्ष करते हैं, उसको मुझे बतलावें।'

यमराज उत्तर देते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(कठोपनिषद् १। २। १५)

'सारे वेद जिस परम-पदका प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तपस्याओंको जिसकी प्राप्तिके साधन बताते हैं, जिस पदको पानेकी इच्छासे ब्रह्मचर्यका आचरण किया जाता है, उसे संक्षेपमें मैं कहता हूँ—वह ब्रह्मपद ओंकार है।'

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
(कठोपनिषद् १। २। १६)

'इस ओंकारको, पर और अपर ब्रह्मरूपमें जानकर वे जो चाहते हैं, वह उनको प्राप्त होता है।'

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(कठोपनिषद् १। २। १७)

'यह सबसे श्रेष्ठ आलम्बन है, यह पर और अपर ब्रह्म, दोनोंका आश्रय है। जो इस ओंकारकी उपासना करेगा, वह ब्रह्मलोकमें पूजित होगा।'

प्रश्नोपनिषद्में एक प्रश्न है—

'अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ—स यो ह वै तद् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति।' (५। १)

पिप्पलादमुनिसे शिबिपुत्र सत्यकामने पूछा—'भगवन्! मनुष्योंमें जो प्राणान्तकालपर्यन्त इस ओंकारका चिन्तन करे, वह उस ओंकारोपासनासे किस लोकपर विजय पाता है?'

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥ (प्रश्नो० ५। २)

पिप्पलादने उत्तर दिया—'हे सत्यकाम! यह जो ओंकार है, यह निश्चय ही प्रसिद्ध परब्रह्म और अपरब्रह्म है। इसी कारण ज्ञानी पुरुष ओंकारका अवलम्बन करके अपने वाञ्छित पर या अपरब्रह्मको प्राप्त करता है।'

(इस ओंकारकी अ उ म्—तीन मात्राएँ हैं!)

'स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते। स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति॥' (प्रश्नोप० ५। ३)

'वह उपासक यदि एक मात्राविशिष्ट ओंकार (अकार)का निरन्तर ध्यान करता है तो उसी ध्यानके द्वारा सम्यक्-रूपेण बोधित होनेपर उसके द्वारा अकार-मात्राका साक्षात्कार करता है। वह अतिशीघ्र पृथिवीपर लौटकर मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है। (क्योंकि ओंकारकी पहली मात्रा ऋग्वेद-स्वरूपा है,) अतः ऋचाएँ उसको मनुष्य-लोकमें ले जाती हैं। वह वहाँ तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न होकर महिमा (विभूति) को अनुभव करता है।'

'अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते॥ (प्रश्नोप० ५। ४)

'और यदि द्वितीय मात्राविशिष्ट ओंकार (उकार)का ध्यान करता है तो वह सोमदेवताके द्वारा अधिष्ठित मन्त्रात्मक

या यजुर्वेदात्मक मनमें आत्मभावको प्राप्त होता है। वह मरनेके बाद द्वितीयमात्रा 'उकार' रूप यजुर्मन्त्रोंके द्वारा (अर्थात् 'उ'कारोत्पन्न नादसमूहके द्वारा) अन्तरिक्ष—सोमलोकको प्राप्त होता है। वह चन्द्रलोकमें ऐश्वर्य भोग करता है और फिर जगत्‌में लौट आता है।

'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥' (प्रश्नोप० ५। ५)

'जो पुनः अ-उ-म्—त्रिमात्रात्मक ॐ इस अक्षरके द्वारा सूर्यमण्डल-मध्यवर्ती सर्वोत्तम पुरुषका निरवच्छिन्न भावसे ध्यान करता है, वह तृतीय मात्रा मकारके स्वरूपको प्राप्त होकर ज्योतिर्मय सूर्यमें मिलित होता है। जैसे सर्प पुरानी केंचुलसे मुक्त होता है, उसी प्रकार वह उपासक पापसे विशेषरूपसे मुक्त हो जाता है। सामश्रुतियोंद्वारा (अर्थात् मकारोत्पन्न नादसमूहकी सहायतासे) ऊर्ध्व—ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। वह इस चराचरसे श्रेष्ठ हिरण्यगर्भ ब्रह्मसे उत्तम, सर्व शरीरमें सुप्रविष्ट पुरुषोत्तम ज्योतिर्मय परम पुरुषका साक्षात्कार करता है। इस विषयमें दो श्लोक हैं।'

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता
अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥
(प्रश्नोप० ५। ६)

'ओंकारके अकार, उकार, मकार-नामक तीन मात्राएँ पृथक्-पृथक् रहनेपर मृत्युके अधीन हैं अर्थात् इन तीन अक्षरोंमें ब्रह्मदृष्टि न करके यदि ध्याता अ, उ, म-कारका पृथक्-पृथक् ध्यान करता है तो वह ध्यानके फलका विनाशी बनता है। अकारके ध्यानसे पृथिवीपर लौट आता है, उकारके ध्यानसे चन्द्रलोकमें सुखभोग करता है और फिर मृत्युलोकमें प्रत्यावर्तन करता है। अकार, उकार, मकार इन त्रिमात्रायुक्त ओंकारके ध्यानसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। द्विपरार्द्धके अवसानमें ब्रह्मलोक भी नष्ट हो जाता है। इस कारण त्रिमात्रात्मक ओंकारका ध्यान करनेसे विनाशी, अचिरस्थायी फल प्राप्त होता है। नाभिमें जाग्रत् बाह्य स्थानका अधीश्वर ब्रह्मा अकारका, हृदयमें सुप्त आभ्यन्तर हृदयका अधीश्वर विष्णु उकारका तथा मध्यम सुषुप्ति द्विदलका अधिपति ईश्वर—शंकर मकारका ध्यान यदि नाद सुनते-सुनते किया जाय तो नाभिमें ब्रह्म-ग्रन्थिभेद होनेपर प्राण (अपर प्रणव) हृदयमें आता है, नादके ध्यानसे हृदयग्रन्थि-भेद होनेपर द्विदलमें प्राण क्रीड़ा करता है। नादानुसंधानमें द्विदल-भेद हो जानेपर प्राण म् म् म् हलन्त मकारके रूपमें महाकाशमें उपस्थित होकर परमपदमें लीन हो जाता है। जो इस प्रकार अकार, उकार, मकारके विभागको जानता है, वह देहातीत हो जाता है, नवकम्पनका आधार देह ज्ञानहीनतामें अचञ्चल रूपमें सत्यलोकमें अवस्थित हो जाता है।

जब ओंकार अनाहत-ध्वनि-स्वरूपमें ऊर्ध्वगत होता है, तब उपासकको फिर कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती। वह जागरित कुण्डलिनी (ओंकार-नाद) उसको लेकर परमपदसे युक्त (मुक्त) कर देती है।

एक बार किसी प्रकारसे नादके जाग्रत् होनेपर फिर साधकके लिये चिन्ताकी कोई बात नहीं होती। (माँ यथासमय उसको एकीभूत कर लेती है।)

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत्तत् कवयो वेदयन्ते।
तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं च ॥
(प्रश्नोप० ५। ७)

सब ऋचाओंके द्वारा अर्थात् अकारजात नादसमूहके द्वारा प्राप्य मनुष्यलोक, यजुः-समूह अर्थात् उकारसम्भूत नाद-समूहकी सहायतासे प्राप्य चन्द्रलोक और साम-समूह अर्थात् मकार-समुत्पन्न नादवृन्दके द्वारा मेधावी नादानुसंधानकारी नादाभिज्ञजनके अवगम्य ब्रह्मलोक—इन तीन लोकोंको उपासक ओंकारका अवलम्बन करके प्राप्त करता है और जो शान्त, अजर, अमृत, अभय और सर्वश्रेष्ठ पद है, उसको भी इस ओंकारके अवलम्बनसे प्राप्त होता है।

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।' (माण्डूक्योपनिषद् १)

एक महात्माका प्रसाद

मेरी दृष्टिमें मानव-जीवनकी सार्थकता इस बातमें है कि शरीरका सदुपयोग करते हुए मानव-शरीरके रहते हुए ही स्वयं उसकी आवश्यकतासे मुक्त हो जाय। यह तभी सम्भव होगा, जब मानव इस वास्तविकताको स्वीकार करे कि शरीर पर-सेवाके लिये मिला है; अपने लिये नहीं। जब मानव प्रमादवश शरीरके द्वारा सुख-भोगकी रुचिको पूरी करने लगता है, तब उसका शरीरसे तादात्म्य हो जाता है; उसके होनेसे सुखके भोगीको विवश होकर दुःख भोगना पड़ता है। ऐसी परिस्थितिमें भी यदि मानव सजग होकर दुःखके प्रभावको अपनाकर सुखके प्रलोभनसे रहित हो जाता है, तो मङ्गलमय विधानसे स्वतः शरीरके साथ तादात्म्य शेष नहीं रहता और फिर मानव सुगमतापूर्वक देहातीत अविनाशी जीवनसे अभिन्न हो जाता है। फिर अपनेमें ही अपने प्रेमास्पदको पाकर वह सदा-सर्वदाके लिये आनन्द-विभोर हो जाता है, जो मानवकी वास्तविक माँग है। इस दृष्टिसे यह निज-ज्ञानके प्रकाशमें अनुभव करना होगा कि शरीर मेरा नहीं है, मेरे लिये नहीं है, अपितु विश्वरूपी वाटिकाकी खाद है। जब शरीर विश्वके काम आ जाय, तब विचारक निज-स्वरूपसे अभिन्न हो जाता है और प्रभु-विश्वासी 'प्रभु-प्रेम'का अधिकारी हो जाता है। अतएव शरीरके द्वारा पर-सेवा करते रहना चाहिये और प्रत्येक कार्यके अन्तमें शान्तिका सम्पादन स्वतः होना चाहिये। शान्ति सामर्थ्यकी जननी है और शान्तिमें ही जिज्ञासा-पूर्तिका उदय एवं प्रेम-प्राप्तिके लिये मधुर स्मृति स्वतः जाग्रत् होती है, यह अनन्तका मङ्गलमय विधान है। वर्तमान आवश्यक कार्यका आरम्भ और अन्त शान्तिमें ही होना चाहिये। यह तभी सम्भव होगा, जब मानव यह स्वीकार करे कि विश्वमें मेरा कुछ नहीं है; मुझे उससे कुछ नहीं चाहिये। एकमात्र श्रीहरि ही मेरे सर्वस्व हैं। वे सदैव होनेसे अभी हैं और सर्वत्र होनेसे अपनेमें हैं, अर्थात् अभी अपने प्रेमास्पद अपनेमें हैं, यह विकल्प-रहित अविचल आस्था रहनी चाहिये। निज-ज्ञानसे यह सिद्ध है कि संसारमें 'मेरा' कहनेके लिये कुछ नहीं है और भक्त-वाणीके आधारपर प्यारे प्रभु ही मेरे अपने हैं। इस वास्तविकताको स्वीकार कर सदाके लिये निश्चिन्त, निर्भय हो जाना चाहिये। जब मानव सद्गुरु-वाक्यके आधारपर यह स्वीकार कर लेता है कि एकमात्र सर्व-समर्थ प्रभु ही अपने हैं, तब उसमें स्वतः निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियताका उदय होता है, जिसके होते ही शान्ति, मुक्ति और भक्तिकी अभिव्यक्ति होती है।

मानवकी जो माँग है, उसकी पूर्ति पराश्रय एवं परिश्रम-रहित होते ही हरि-आश्रय एवं चिर-विश्रामसे स्वतः हो जाती है। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं; जिन्होंने निज-ज्ञानका आदर तथा बलका सदुपयोग एवं गुरु-वाक्यद्वारा प्रभुमें अविचल आस्था स्वीकार की है, और यही वास्तविक सत्सङ्ग है। सत्सङ्ग ही मानवका एकमात्र स्वधर्म है, परम पुरुषार्थ है। सत्सङ्गसे ही सभी समस्याएँ सुलझ सकती हैं—यह अनुभवसिद्ध सत्य है। ज्ञान तथा प्रभु-विश्वास ही गुरुदेवका स्वरूप है; उसे अपना लेना ही वास्तविक गुरु-भक्ति है। शरीरमें गुरु-भाव और गुरुमें शरीर-बुद्धि भारी भूल है, जिसका गुरु-भक्तोंके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

* * * *

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये जीवनके दो अङ्ग हैं। इन दोनोंका उपयोग साधना-निर्माणमें है। प्रवृत्तिका उपयोग है— विद्यमान रागकी निवृत्तिमें और निवृत्तिका उपयोग है—नवीन रागकी अनुत्पत्तिमें। क्या प्रवृत्ति और

निवृत्ति जीवन है या साधन-सामग्री—इस समस्यापर विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होगा कि जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंसे अतीत है, अर्थात् दोनोंसे विलक्षण है। किंतु रागरहित होनेके लिये प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंकी ही आवश्यकता है। इस दृष्टिसे दोनों ही आदरणीय हैं। कुछ लोग केवल प्रवृत्तिको ही साधन मान लेते हैं और यह सोचते हैं कि हमें एकान्तमें जानेकी, शान्त रहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; और कुछ लोग निवृत्तिको ही साधन मान लेते हैं और सोचने लगते हैं कि हमें संसारसे कोई प्रयोजन नहीं है। पर संसारसे बाहर किसी व्यक्तिको जाते हुए देखा नहीं; चाहे हिमालयकी कन्दरामें चले जायँ और चाहे किसी शहरके बाजारमें रहें—हैं तो दोनों ही संसारके अन्तर्गत। परंतु इन दोनोंको एक मानकर, उपयोगी मानकर जो साधन किया जाता है, वह साधन सर्वांशमें पूर्ण सिद्ध होता है और उससे प्रत्येक साधकको साध्यकी उपलब्धि होती है, ऐसा मेरा विश्वास है।

आप विचार करें कि प्रवृत्ति है क्या?—वृत्तिका स्फुरण; और निवृत्ति क्या है?—वृत्तिका स्फुरण न होना। तो आप कितने ही एकान्तमें चले जायँ, वृत्तिका स्फुरण तो होता ही है। परंतु देखना यह है कि जिस वृत्तिका स्फुरण होता है, वह वृत्ति दूसरोंके लिये हितकर है अथवा अहितकर। यदि उत्पन्न होनेवाली वृत्ति दूसरोंके लिये हितकर है तो वह प्रवृत्ति निवृत्तिको पुष्ट करेगी; क्योंकि जिस वृत्तिका स्फुरण सर्वहितकारी होता है, उस वृत्तिसे होनेवाली क्रिया किसीके अधिकारका अपहरण नहीं करती; अपितु संरक्षण करती है। अब आप सोचिये कि जब हमारे द्वारा होनेवाली प्रवृत्तियोंसे सभीके अधिकार सुरक्षित होंगे, किसीके भी अधिकारका अपहरण नहीं होगा तो फिर वह प्रवृत्ति अपने आप निवृत्तिमें विलीन हो जायगी, अर्थात् वृत्तिका जो स्फुरण है, वह नहीं होगा।

अब, यहाँ एक बात जरा गम्भीरतासे विचारणीय है कि वृत्तिका स्फुरण न होना एक अवस्था भी है और वृत्तिके स्फुरण न होनेमें एक जीवन भी है। अवस्था क्या है और जीवन क्या है—यह जरा सूक्ष्म बात है। अवस्था तो है—शान्ति, परम शान्ति और जीवन है—चिन्मय, परम चिन्मय। आप कहेंगे कि वृत्तियोंका प्रकाशक, वृत्तियोंका उद्गमस्थान और विलय-स्थान वृत्ति नहीं है तो जो वृत्ति नहीं है, वही वृत्तिका प्रकाशक है। आप कहेंगे कि वृत्ति स्वयं वह रूप बना लेती है, जिसके साथ उसका सम्बन्ध होता है। बात ठीक है कि जिसका अस्तित्व किसी अन्यके आश्रित रहता है, उसका कभी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता और जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता, उसका उपयोग किया जा सकता है, उसको 'जीवन' स्वीकार नहीं किया जा सकता, उसका आश्रय नहीं लिया जा सकता; अपितु उसका उपयोग किया जा सकता है। इस दृष्टिसे भी हमें प्रवृत्तिका उपयोग करना है और निवृत्तिका भी उपयोग करना है, अर्थात् उत्पन्न होनेवाली वृत्तिका भी ठीक-ठीक उपयोग करना है और विलीन होनेवाली वृत्तिका भी ठीक-ठीक उपयोग करना है।

कभी-कभी वृत्ति जडतामें भी विलीन हो सकती है और कभी-कभी वृत्तिका स्फुरण उपभोगके लिये भी होता है; स्वार्थभावको भी लेकर होता है और असाधन-रूप भी होता है। अतः इन दो बातोंका बहुत ध्यान रखना है कि न तो हमें अपनी वृत्तिका स्फुरण स्वार्थ-भावके लिये करना है और न वृत्तिका लय जडतामें होने देना है। जडतामें वृत्तिका लय न हो और स्वार्थभावसे वृत्तिका उदय न हो—इसका नाम क्या है? इसका नाम है—साधन। साधन भी एक स्वाभाविक दशाका नाम है, असाधन भी एक स्वाभाविक दशाका नाम है; क्योंकि जडतामें कोई

सदैव लीन नहीं रह सकता। स्वार्थभाव सदैव कभी सिद्ध नहीं हो सकता, यह नियम ही है। इसलिये साधनरूप प्रवृत्ति और साधनरूप निवृत्ति आदरणीय और अनुसरणीय हैं, किंतु असाधन रूप निवृत्ति और असाधन रूप प्रवृत्ति अनुसरणीय नहीं है। इस दृष्टि-कोणसे हमको और आपको अपने विवेकके प्रकाशमें अपनी वस्तुस्थितिका अध्ययन करना चाहिये।

* * * *

जो वस्तु स्थूल होती है, वह सीमित और विनाशी होती है और जो सूक्ष्म होती है, वह विभु और अविनाशी होती है। इस दृष्टिसे हमें उस सूक्ष्मताकी ओर जाना है, जिसका विभाग न हो सके, अर्थात् जो टूट न सके, अथवा यों कहें कि जिसमें विभाजन न हो सके। यह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने अहंभाव-रूपी अणुको तोड़ दें। उसके लिये हमें प्रथम सब प्रकारकी ममताको तोड़ना होगा। ममताका अन्त होते ही सब प्रकारकी चाहका अन्त होगा और चाहरहित होते ही अहंरूपी अणु स्वतः टूट जायगा—उसके लिये कोई अन्य प्रयत्न अपेक्षित नहीं होगा; क्योंकि चाहरहित होते ही 'अहं' तथा 'मम'का नाश हो जाता है। अहंरूपी अणुके टूटते ही भिन्नता मिट जाती है, जिसके मिटते ही अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवनसे एकता हो जाती है और प्रभुका प्रेम प्राप्त हो जाता है। अतः अपना कुछ न रखनेसे ही जीवनकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है।

* * * *

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो। प्रत्येक घटनामें सर्व-समर्थ प्रभुकी लीलाका दर्शन करो। सब प्रकारसे उन्हींके होकर रहो। उनकी अहैतुकी कृपाका आश्रय ही आस्तिक साधकका परम बल है। विचारपूर्वक यह अनुभव करो कि जो कुछ मिली है—शरीरादि प्रत्येक वस्तु, वह अपनी नहीं है। अपने तो केवल सर्व-समर्थ प्यारे प्रभु ही हैं। निर्मम (ममता-रहित) होनेसे निष्काम होनेकी सामर्थ्य आ जाती है और फिर बड़ी सुगमतापूर्वक सर्व-समर्थ प्रभुकी आत्मीयता, अर्थात् अपनापन सिद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अखण्ड-स्मृति तथा अगाध-प्रियता स्वतः जाग्रत् होती है। तन-मन-धनादि जो कुछ मिला है, अथवा दिखायी देता है, उन सभी वस्तुओंपर प्यारे प्रभुकी सील-मोहर लगा दो। इस दृष्टिसे प्रत्येक परिस्थितिमें उनकी मधुर स्मृति जागरित होगी। चिन्ता, भय तथा विस्मृति सदाके लिये नष्ट हो जायगी और निश्चिन्तता, निर्भयता एवं अखण्ड स्मृति सदाके लिये सबल तथा स्थायी हो जायगी। स्मृतिमें ही अनन्तका वास है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अपनेमें अपना कुछ नहीं पाता; अपितु सब प्रकारसे प्यारे प्रभुका ही होकर रहता है और उनकी आत्मीयताको ही जीवन मानता है। जहाँ रहो, प्रसन्न रहो; जो करो, ठीक करो।

'प्रेम तू लगाउ सुखधाम घनस्याम सौं'

काहू की न प्रीति दृढ़ तेरे संग है रे मन, कासौं हठि प्रेम करि पचि-पचि मरै है।
ये तो जग के हैं सब लोग ठग रूप मीत ! मीठे बैन-मोदक पै क्यों प्रतीति करै है॥
मारिहै प्रपंच बन बीच दगा फाँस डारि, काहे मतिमंद मोही दुःख-फंद परै है।
प्रेम तू लगाउ सुखधाम घनस्याम सौं, जो नाम के लिये तैं ताप-पाप कोटि हरै है॥

—दीनदयालगिरि

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

प्रेमका स्वरूप

अपनी सारी ममता, सारी प्रीति, सारी आसक्ति एकमात्र परम प्रियतम श्रीभगवान् श्यामसुन्दरमें ही केन्द्रित हो जानी चाहिये। जीवनमें जब केवल वे ही ममता, प्रीति तथा आसक्तिके एकमात्र आधार हो जाते हैं, तब प्रत्येक विचार, प्रत्येक स्फुरणा, प्रत्येक संकल्प, प्रत्येक चेष्टा और प्रत्येक क्रिया उन्हींके लिये हुआ करती है। शरीरका प्रत्येक स्पन्दन तथा श्वासकी प्रत्येक चेष्टा उन्हींके लिये होती है। यही प्रेमका स्वरूप है। इसमें सारी दुर्वासनाएँ, कुकामनाएँ ही केवल नष्ट नहीं होतीं, श्रीश्यामसुन्दरकी प्रीति-वासना, प्रीति-कामनाके अतिरिक्त अन्य कोई सुवासना-सुकामना भी नहीं रहती। फिर खाना-पीना, सोना-जागना, लेना-देना, भोग-त्याग, मेरा-पराया—सब उन्हींसे, केवल उन्हींसे सम्बन्ध रखता है तथा उन्हींके लिये हुआ करता है। जगत्में न कहीं रागमें मन जाता है न द्वेषमें। असीम प्रेम सबको छोड़कर सर्वत्र मधुमय प्राण-प्रियतमकी झाँकी करवाता रहता है। फिर आँखें केवल उन्हींकी रूप-माधुरी तथा लीला-माधुरीको देखती हैं, कान उन्हींकी मुरली-लहरी तथा स्वर-लहरीको सुनते हैं, नासा केवल उन्हींकी अङ्ग-सुगन्ध तथा उनके गलेमें सुशोभित दिव्य मालाओंके पुष्पोंकी सुगन्धको सूँघती है, रसना केवल उन्हींके नित्य पावन रसमय प्रसादको चखती है और त्वक् सदा-सर्वदा उन्हींका मधुरतम, पवित्रतम संस्पर्श प्राप्त करती रहती है एवं मन-बुद्धि सब उन्हींमें रमे रहते हैं। बस, सदा-सर्वदा,-सर्वत्र केवल प्राण-प्रियतम ही प्राण-प्रियतम। न विषय, न विषय-जगत्।

प्रेमकी भाषा मौन होती है

तुमने लिखा है—'मौन तो कायर होता है', सो ऐसी बात नहीं है। बहुत बोलनेवाले वीर नहीं होते; बोले नहीं और करे—वही वीर है। फिर प्रेमकी भाषा मौन होती है, वाणी नहीं होती। प्रेम तो हृदयका परम गोपनीय धन है और है अनुभवरूप। उसका वाणीसे वर्णन हो ही नहीं सकता। वह जीवन बन जाता है। वाणी नहीं बोलती, उसका जीवन बोलता है; पर वह भी गुप्त-भाषामें, मौन-भाषामें।

धन्य है यह पवित्र प्रेम !

तुम्हारा प्रभुके साथ बड़ा ही सुखद तथा आनन्ददायक भाव-मिलन होता है, सो ठीक है। बस, यही होना चाहिये। प्रभु सदा ही समीप रहते हैं; इतना समीप कि उतनी समीप कोई अन्य वस्तु है ही नहीं; इतने व्यवधानरहित निकट कि वैसी निकट कोई वस्तु ही नहीं है और इतने 'अपने' कि वैसा 'अपना' उनके सिवा और कोई भी नहीं है। प्रेमका यह अवश्य चमत्कार है कि इतनी समीप, इतनी निकट और इतनी अपनी वस्तुके नित्य समीप रहनेपर भी उसकी सतत स्मृति रहती है तथा मिलनोत्कण्ठा बनी रहती है। मिले रहकर भी तृप्ति नहीं होती है। धन्य है यह पवित्र प्रेम !

प्रियतमके अतिरिक्त अपना कहनेको और कुछ भी न रहे

तन-मन-जीवन, लोक-परलोक—सभी प्रियतमके समर्पित हों; प्रियतमके लिये सुख-दुःखका अभिनन्दन हो; प्रियतमके अतिरिक्त अपना कहनेको और कुछ भी न रहे। यह निष्किंचनता जहाँ होती है, वहाँ भगवान् उसका पद-रजकण प्राप्त करनेको लालायित हुए उसके पीछे-पीछे सदा लगे रहते हैं। उसकी चरण-धूलिसे अपनेको पवित्र मानते हैं—

स्वामिनि राधा विनय सुनु, देखु भयो बेहाल।
दे नित चरन-सरोज-रज-कन मोहि करहु निहाल॥

भगवान् अपने ऐसे सर्वव्यापी प्रेमीजनको क्षणभरके लिये भी कभी भूल नहीं सकते; सदा एकमेक ही रहते हैं; फिर भूलनेकी बात है ही कहाँ ? उन्होंने गीतामें घोषणा की है—'मयि ते तेषु चाप्यहम्—मैं उनमें रहता हूँ, वे मुझमें रहते हैं।'

विरहजन्य स्मृति बड़ी ही श्रेष्ठ होती है

मनका संसारमें न लगना, संसारसे ऊबना, उसका संसारसे विरक्त रहना तो सद्गुण ही है। भगवान्‌में निरन्तर मन लगा रहना चाहिये। भगवान्‌की प्रतीक्षा, भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा, भगवान्‌की अनुभूति, व्याकुल-स्मृति निरन्तर होनी चाहिये।

भगवान्‌की विरहजन्य स्मृति बड़ी ही श्रेष्ठ हुआ करती है। भगवान्‌ने गोपियोंसे कहा था—

'प्रिय गोपीजनो ! इस देहके साथ ही तुम्हारा यह सामयिक अमिलन है। विरहके माध्यमसे भीतर-बाहर, स्वप्न-जागरण-सुषुप्ति—सभी अवस्थाओंमें मेरा तुमलोगोंके साथ सदा ही मिलन बना रहता है। यह विरहकी ही परम शक्ति है, जो प्रियतमको विश्वमय दिखलाता है—'त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे।' मिलनानन्द-सम्भोगका बड़े गहरे भावसे आस्वादन करानेवाला गुरु तो एकमात्र विरह ही है। प्रियतमके विरहमें प्रियतमका जिस गम्भीर भावसे आस्वादन किया जाता है, उस प्रकारका आस्वादन मिलनमें नहीं होता। मिलन तो सदा ही मिलन-भङ्गकी आशङ्कासे दुःखदायी पर्देसे ढंका रहता है; सदा ही भय बना रहता है बिछुड़ जानेका; परंतु विरह नित्य-निरन्तर मिलन-भङ्गकी आशङ्कासे—बिछुड़नेके भयसे मुक्त है। वह तो नित्य ही—बिना किसी आवरण-भयके स्वच्छन्द भोगलोकसे समुज्ज्वल है। मिलनमें भोग होता है, विरहमें भोगवर्धन है। अतएव गोपिकाओ ! तुम्हारे साथ मेरा कभी वियोग है ही नहीं। विरहके माध्यमसे अंदर-बाहर, स्वप्न-जागरण—सभी अवस्थाओंमें तुम्हारा-मेरा नित्य मिलन होता रहता है।'

बस, इसी प्रकार सदा-सर्वदा श्रीभगवान्‌के साथ मिलनानन्दका आस्वादन करते रहना चाहिये। शरीर चाहे कहीं रहे, भगवान् तो वहाँ हैं ही।

भगवान्‌को सीधा-सरल समर्पण प्रिय है

भगवान् कलुष-कलङ्क नहीं देखते, वे पाप-अपराध नहीं देखते। किसी योग्यताकी उन्हें अपेक्षा नहीं है। वे तो जानते हैं—सीधा-सरल समर्पण। जो यह कह दे, सरल चित्तसे—'नाथ ! मैं तुम्हारा हूँ', बस, तत्काल ही भगवान् सदाके लिये उसको अपना बना लेते हैं। इतना ही नहीं, सदाके लिये उसके बन जाते हैं—प्रेमी और उसे बना लेते हैं—प्रियतम। सदा उसे लोभीके धनकी भाँति अपने हृदयमें बसाये रखते हैं। भगवान् अपनी भगवत्ता भूल जाते हैं, परंतु उसको नहीं भूल सकते।

श्रीकृष्णकी शक्ति-कृपासे सब होगा—दृढ़ निश्चय रखो !

विश्वास करो—तुमपर श्रीकृष्णकी बड़ी कृपा है। तुम अपने मनमें अत्यन्त प्रसन्न तथा निश्चिन्त रहो। हाँ, श्रीकृष्णके प्रति अपनी इच्छाको निरन्तर बढ़ाते रहो। संसारकी, तमाम दृश्य-जगत्‌की सत्ता न रहकर एकमात्र श्रीकृष्ण ही रह जायँ—ऐसी चाह सदा बढ़ाते रहो। करेंगे सब वे ही और सब उनकी ही शक्ति तथा कृपासे होगा। होगा अवश्य—यह मनमें दृढ़ निश्चय रखो; कभी संदेह मत करो—

हरिने जिसको कर लिया एक बार स्वीकार।
वह उनका ही हो चुका, उतर चुका भव-पार॥
रहेगा न उसमें कहीं, कभी प्रपञ्च-विकार।
बन जायेगा, बन चुका वह शुचि सुख-भंडार॥

अपने भाव और प्रेममें सदा कमी दीखती रहे

तुम्हें अपना भाव और प्रेम कम दीखता है, सो कम तो दीखना ही चाहिये। यह तो आदर्श सद्गुण तथा एक उत्तम भाव है। निरन्तर यही दीखता रहे—'हम अवगुणोंसे भरे हैं, भगवान् सर्वगुण-सागर हैं; हम पतित हैं, भगवान् पतितपावन हैं; हम भजन-साधन-हीन, सर्वथा दीन-हीन-मलिन हैं, भगवान् अकारण-कृपालु तथा सहज सुहृद् हैं। हम भगवान्‌की छायाको भी नहीं छू सकते, पर भगवान् जबर्दस्ती हमारे हृदयमें घुसकर सारा हृदय साफ करके वहाँ अपना घर बना लेते हैं—यह उनका स्वभाव है।'

संसारका स्वरूप

श्रीभगवान्‌का हमलोगोंपर अत्यधिक स्नेह है, इसमें जरा भी संशय नहीं है। उस स्नेह-सम्पत्तिसे परमधनी हमलोग हैं, इसलिये हमें जरा भी चिन्ता-विषाद नहीं करना चाहिये। संसार संसारकी दृष्टिसे दुःखमय है— इसमें सुख-लेश भी नहीं है और भगवान्‌की दृष्टिसे लीलारूप भगवन्मय है, जिसमें सुख-ही-सुख है। कहीं कुछ भी हुआ करे, भगवान्‌की लीला-दृष्टि होनेसे उसमें दुःख नहीं होगा।

विपत्ति भगवान्‌का मङ्गलविधान है

विपत्तिको भगवान्‌का मङ्गलविधान मानकर सहन कीजिये, परिणाम शुभ होगा; देर हो सकती है। इस समय जो तिरस्कार और अपमान प्राप्त हो रहे हैं, उनसे पूर्वकर्मका ऋण चुक रहा है, ऐसा मानना चाहिये। मनमें निराश न होकर भगवान्‌की कृपापर विश्वास रखना चाहिये।

असली स्व-स्थता भगवान्‌में स्थित रहनेमें ही है

असली स्व-स्थता अपने अभिन्नस्वरूप भगवान्‌में स्थित रहनेमें ही है। जगत्‌में, प्रकृतिमें स्थिति ही अस्वस्थता है। अतएव जो भगवान्‌में स्थित हैं, उनके सिवा सभी अस्वस्थ हैं। यही स्वास्थ्य ठीक रहना है। तुम इसी स्वस्थताकी स्थितिमें सदा रहो; क्षणभरके लिये भी भगवान्‌से अलग होकर जगत्‌में रहनेका कभी संकल्प ही न हो। नित्य-निरन्तर अबाधरूपसे भगवान्‌का मधुर-मनोहर आत्मरूप सम्पर्क रहे—प्रत्येक अङ्गको, रोम-रोमको, मन-बुद्धिकी अत्यन्त सूक्ष्मतम भूमिको भी उनका नित्य संस्पर्श प्राप्त होता रहे।

प्रार्थना प्रभु-प्रेमका पावन स्वरूप है

तुम जो प्रार्थना करते हो, सो बहुत सुन्दर है। प्रार्थना किये बिना रहा नहीं जाता, यह बहुत अच्छा है; वास्तवमें प्रार्थना किये बिना नहीं रहा जाना चाहिये। यह प्रार्थना भी प्रभु-प्रेमका ही एक पावन स्वरूप है, जो हृदयके मधुर दिव्य प्रेमको किसी अंशमें बाहर प्रकट बना अपनी अभिव्यक्ति करता है और प्रेमरसास्वादनको और भी मधुरतम कर देता है।

परमपुरुष वासुदेवको पानेका सुगम उपाय—हरिनाम

(लेखक—डॉ० श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा, एम्०ए०, एल्-एल०बी०, पी-एच्०डी०)

आज कलियुगके प्रचण्ड ताण्डवकी नाना प्रकारकी विडम्बनाओंके बीच परमपुरुष वासुदेवको पानेका क्या कोई उपाय है ? यह प्रश्न सबके सम्मुख है। इसका उत्तर शास्त्र एवं संत-वचनोंके आधारपर यह है कि उपाय है, सहज और सुगम है; उसमें अर्थव्यय नहीं होता। अनायास, श्रद्धायुक्त होकर, चलते-फिरते, बैठते-उठते, खाते-पीते, सोते-जागते, जिस-किसी अवस्थामें हो, जिह्वाकी सहायतासे श्रीभगवान्‌का नाम-जप या कीर्तन, उनका चित्रदर्शन या लीला-ध्यान, कानकी सहायतासे नाम-श्रवण सहज उपाय हैं।

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५१)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'हे राजन्! दोषोंके आकर कलियुगमें एक महान् गुण यह है कि कृष्णनाम-कीर्तनके द्वारा मनुष्य सारे बन्धनोंसे मुक्त होकर परम धाममें गमन करता है।'

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद्भागवत १२। ३। ५२)

'सत्ययुगमें विष्णुके ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञके द्वारा, द्वापरमें परिचर्याके द्वारा—अर्चनासे जो फल होता है, कलियुगमें अविकल वही फल श्रीभगवान्‌के नाम-कीर्तनके द्वारा प्राप्त होता है।'

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैः त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
(विष्णुपुराण ६। २। १७)

व्यासजी कहते हैं—'सत्ययुगमें अति क्लेशसाध्य ध्यान-योगके द्वारा, त्रेतायुगमें नाना प्रकारके यज्ञोंके अनुष्ठानके द्वारा और द्वापरयुगमें बहुत पूजा-अर्चा आदिके द्वारा जो फल प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें हरिनाम-संकीर्तनके द्वारा मनुष्य प्राप्त कर सकता है।'

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
(विष्णुपुराण ६। २। १५)

'सत्ययुगमें दस वर्ष, त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरयुगमें एक मास परिश्रम करके तपस्या, ब्रह्मचर्य अथवा जपादिके द्वारा जो फल प्राप्त होता है, कलिकालमें मनुष्य एक दिन-रातकी साधनामें वही फल प्राप्त कर लेता है।'

विष्णु-नामसंकीर्तन वैदिक उपासना है

बहुतोंकी धारणा है कि भगवान्‌का नाम-कीर्तन साम्प्रदायिक और अर्वाचीन है। निम्नोक्त ऋक्-मन्त्रसे उनकी भ्रान्ति दूर हो जायगी—

(क) तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथाविद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विवक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥
(ऋक्सं० १। १५६। ३)

इस श्रुतिका उल्लेख करते हुए श्रीशंकराचार्य अपने 'विष्णु-सहस्रनामोंके भाष्यमें लिखते हैं—"श्रुति इत्यादिभिर्विष्णोर्नाम-संकीर्तन सम्यग् ज्ञानप्राप्तये विहितम्। तमेव स्तोतारः पुराणं यथाज्ञानेन सत्यस्य गर्भं जन्मसमाप्तिं कुरुत। जानन्तः आ अस्य विष्णोः नामापि आवदत अन्ये वदन्तु मा वा हे विष्णो वयं ते सुमतिं शोभनं महः भजामहे, इति श्रुतेरभिप्रायः।"

इस मन्त्रका अभिप्राय यह है कि 'हे स्तुतिकारीगण! सत्यके सारस्वरूप उस पुराणपुरुषको यथार्थतः जानकर गर्भ (जन्म) की समाप्ति करो। इस विष्णुके नामोंको जानकर उनका उच्चारण भी करते रहो। दूसरे उनका कीर्तन करें या न करें, हम तो हे विष्णो! आपके सुन्दर तेज और सुमतिका भजन करते हैं।'

(ख) ऋतस्य पदं कवयो नि पान्ति गुहा नामानि दधिरे पराणि।
(ऋक्सं० १०। ५। २)

'ज्ञानी पुरुष सर्वोत्कृष्ट भगवन्नामोंको हृदयमें सत्य-रूपमें धारण करके रक्षा करे।' प्रतिपल भगवान्‌का नाम-संकीर्तन करनेसे ध्रुवा स्मृतिका उदय होता है और वह सदा सत्य बोलनेके संकल्पको दृढ़ करती है।

शंकराचार्यका नाम-संकीर्तनमें पूर्ण विश्वास था। जो लोग समझते हैं कि मध्वाचार्य या महाप्रभु चैतन्यदेवके

पूर्व भारतमें भागवतधर्म या नाम-कीर्तन नहीं था, वे भ्रममें हैं।

शंकराचार्यने अपने विष्णुसहस्रनाम-भाष्यमें 'पवित्राणां पवित्रं' इस पदकी व्याख्या (परमस्तु पुमान् ध्यातो दृष्टः कीर्तितः, स्तुतः, सम्पूजितः, प्रणतः पाप्मनः सर्वानुन्मूलयतीति) में क्रमशः श्रीहरिके चिन्तन, ध्यान, श्रवण, नाम-कीर्तन, स्मरण, प्रणामविषयक श्लोक उद्धृत किये हैं। शंकराचार्य अपने भाष्यमें कहते हैं—

"एवमादिवचनैः श्रद्धाभक्त्योरभावेऽपि नामसंकीर्तनं समस्तं दुरितं नाशयतीत्युक्तम्, किमुत श्रद्धादिपूर्वकं सहस्रनामसंकीर्तनं नाशयतीति। 'मनसा वा अग्रे संकल्पयत्यथ वाचा व्याहरति।' 'यद्धि मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति।' इति श्रुतिभ्यां स्मरणं ध्यानं च नामसंकीर्तनेऽन्तर्भूतम्।"

अर्थात् इन वाक्योंद्वारा कहा गया है कि श्रद्धा-भक्तिके अभावमें भी नाम-संकीर्तन करनेपर सब पाप नष्ट हो जाते हैं। अतः श्रद्धापूर्वक सहस्रनाम-संकीर्तन करनेपर पाप-नाश होनेमें संदेह ही क्या है? उन्होंने वेदसे प्रमाण दिये हैं। श्रुतिमें लिखा है, पहले मनमें संकल्प करे, फिर वाक्यद्वारा उसे प्रकट करे। जो मनमें चिन्तन करे, उसे वाणीद्वारा बोले।'— इससे प्रमाणित होता है कि स्मरण और ध्यान भी नाम-संकीर्तनके अन्तर्गत हैं। अतएव मन्त्रजप भी नाम-संकीर्तन है।

शंकरने अन्यत्र—

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

—इस प्रसिद्ध श्लोकको नारदपुराणसे उद्धृत किया है। तथापि साधारण रूपसे लोगोंमें विश्वास है कि यह महाप्रभु चैतन्यदेवकृत है।

कलिका तारक ब्रह्मनाम महामन्त्र

जितं तेन जितं तेन जितं तेनेति निश्चितम्।
जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
(विष्णुधर्मोत्तरपुराण)

जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति।
तस्मात् कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव जायते॥
(पद्मपुराण)

कलियुगका तारक ब्रह्मनाम—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

—यह राधातन्त्र और राधाहृदय ब्रह्माण्डपुराणमें उपदिष्ट है। महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यने अग्निपुराण और ब्रह्माण्डपुराणसे इसका संग्रह किया है। इसमें भगवान्के सोलह नाम हैं। इसके द्वारा षोडशकला-आधृत जीवका आवरण भेद होता है। ब्रह्माने—'कलिसन्तरण उपनिषद्'में नारदसे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इन षोडश नामोंका उपदेश करके कहा है कि 'जापक इस मन्त्रका शुचि या अशुचि, किसी भी अवस्थामें साढ़े तीन करोड़ जप करके सद्यः मुक्त हो जाता है। कलिमें यह समस्त मानव-जातिका तारक मन्त्र है।'

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि कलिके तारक महामन्त्रमें हरि, राम और कृष्ण—ये तीन नाम हैं। इसमें 'हरि' आठ बार, 'राम' चार बार और 'कृष्ण' चार बार आता है। भगवान्के सोलह नाम और किसी मन्त्रमें नहीं पाये जाते।

हमलोग परम सौभाग्यवान् हैं, जो हमारा इस कलियुगमें जन्म हुआ है। हमने भगवान् श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्रको पा लिया है। जब राम-नाम भूतलपर नहीं था, तब कोई लौकिक काव्य भी नहीं था। जगत् ऊसर मरुस्थलके समान था।

श्रीराम और श्रीकृष्णके जीवनमें सब कुछ मधुर है। हम उनकी उस मधुर लीलाका आस्वादन करके भक्तिरसमें आप्लुत हो रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण केवल पाँच हजार वर्ष पूर्व इस भारतवर्षमें १२६ वर्षोंतक उपस्थित रहे।

श्रीपाद रूपगोस्वामीने 'विदग्धमाधव' (१।१२) में कृष्ण-नामकी बड़ी ही भावपूर्ण स्तुति की है, जो इस प्रकार है—

तुण्डे ताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावलीलब्धये
कर्णक्रोडकडम्बिनी घटयते कर्णार्बुदेभ्यः स्पृहाम्।
चेतः प्राङ्गणसङ्गिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी॥

"कृष्ण"—यह दो अक्षरोंका नाम जब मुखमें ताण्डव (नृत्य) करता है, तब अनेक मुखोंकी प्राप्तिके लिये अभिरुचि जगा देता है। (यह इच्छा होती है कि एककी जगह अनेक मुख हो जाते तो कीर्तनका अधिक आनन्द

उठाया जाता) । जब वह नाम कानोंके क्रोड (अङ्क) में अङ्कुरित होता है, तब अरबों कानोंकी स्पृहा उत्पन्न कर देता है (अर्थात् यह अभिलाषा होती है कि यदि अरबों कान होते तो उनके द्वारा नामामृतका अधिक पान किया जाता) । जब कृष्णनाम हृदयके प्राङ्गणमें उतरता है तो वह सारी इन्द्रियोंके व्यापारको बंद करके स्वयं सर्वोपरि हो जाता है । न जाने ये कृष्णनामके दो अक्षर कितने अमृतोंसे निर्मित हुए हैं !"

(जब)

रसनामें कृष्णनाम, नृत्य करे अविराम
वाञ्छा कोटि रसनाकी जाग्रत् करे ।
दोनों कानोंने जब सुनी, कृष्ण कृष्ण ध्वनि
दोनों चाहें कोटि-कोटि रूपको धरें ।
जैसे स्पर्श करे हृदि, प्राण-मन-इन्द्रियादि
मानत कृतार्थ कृष्ण नाम मग्न में ।
कितने अमृतसे बने हैं वर्ण कृष्णनाम
आये कैसे इस तप्त धरा-धाममें ॥

❀ ❀ ❀

बंगालमें वैष्णव-धर्मकी धारा

(लेखक—श्रीरासमोहन चक्रवर्ती, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, पुराणरत्न)

(गताङ्क पृष्ठ १०२१ से आगे)

श्रीमन्महाप्रभुने देशके धर्मराज्यमें एक अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया । भगवान्‌के जिस स्वरूपको उन्होंने जीवके सामने प्रकट किया, पूर्ववर्ती कोई आचार्य उसका उल्लेख विशेषरूपसे नहीं करते । आनन्दस्वरूप, रस-स्वरूप कहकर श्रुति परतत्त्वका जो परिचय देती है, महाप्रभुने उसका ही समुज्ज्वल चित्र जगत्‌के सामने प्रकटित किया है । साधकोंकी धारणा थी कि 'ऐश्वर्य भगवत्ताका सार है' इस कारण लोग भगवान्‌के नामसे मानो भयभीत, संत्रस्त और चकित हो उठते थे । महाप्रभु चैतन्यदेवने घोषणा की—'माधुर्य भगवत्ताका सार है ।' यही श्रुति कहती है—'रसो वै सः ।' रस-स्वरूपका—आनन्द-स्वरूपका इसमें चरम तात्पर्य है । भगवान्‌से जो जीव प्रेम करता है, उसके चित्त-विनोदनके लिये वे सर्वदा व्याकुल रहते हैं, भक्त-चित्तविनोदन ही उनका व्रत है । अपनेको प्रदान करनेके लिये वे सतत तत्पर रहते हैं ।

'लोक निस्तारिब एइ ईश्वरस्वभाव ।'

समस्त जीव उनके नित्य दास हैं, समस्त जीवोंके वे प्राप्य हैं—

'जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास ।'

उनके भजनमें जाति-कुल आदिका विचार नहीं है । उनकी सेवाकी प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय है—भगवान्‌का 'नाम-संकीर्तन ।'

(क) नाम-संकीर्तन

उत्कल कवि सदानन्दने श्रीचैतन्यमहाप्रभुको 'हरिनाम-मूर्त्ति' नाम प्रदान किया है । कैसा संक्षिप्त और सार्थक सुन्दर नाम है । वस्तुतः वे हरिनामके मूर्तिमान् विग्रह थे । वे धर्म-जगत्‌में चिरकालके लिये एक अपूर्व वस्तु रख गये हैं, जिसकी अजस्र सुधा युग-युगान्तरतक जीवके उपभोगके लिये संचित रहेगी । यह उनका चिरस्मरणीय नाम-माहात्म्यका प्रचार है । 'श्रीचैतन्य-भागवत'में लिखा है—

कलियुगे सारधर्म नाम-संकीर्तन ।
एतदर्थे अवतीर्ण श्रीशचीनन्दन ॥

श्रीचैतन्यदेवने स्वरचित 'शिक्षाष्टक'के प्रथम श्लोकमें नाम-माहात्म्यको इस प्रकार प्रकाशित किया है—

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

'श्रीकृष्णनाम-संकीर्तन चित्तके दर्पणको निर्मल करता है, संसाररूपी महादावाग्निको निर्वापित करता है, श्रेयरूपी कुमुद-कुलके ऊपर ज्योत्स्ना-वृष्टि करता है; यह पराविद्यारूपी वधूका जीवनस्वरूप है, आनन्द-समुद्रकी वृद्धि करता है, पद-पदपर पूर्णामृतका आस्वादन प्रदान करता है और सब

आत्माओंको प्रेमामृत-सलिलसे पूर्णतः नहला देनेवाला है। इस प्रकारके माहात्म्यसे युक्त श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तन विशेष रूपसे जययुक्त हो।

इस नाम-संकीर्तनको जययुक्त करनेके लिये साधकको किस प्रकारकी साधना ग्रहण करनी होगी, इस दृष्टिसे महाप्रभुने तीसरे श्लोकमें कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

तृणसे भी अवनत और वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु होकर स्वयं अभिमान त्याग करके तथा दूसरोंको सम्मान देते हुए सर्वदा श्रीहरिका नाम-कीर्तन करना चाहिये।

नाम-साधनामें देश-काल आदि नियमका बन्धन नहीं है। खाते-सोते, उठते-बैठते, जिस-किसी भी अवस्थामें नाम ले सकते हैं।

खाइते शुइते यथा-तथा नाम लय।
देश-काल-नियम नाहि सर्वसिद्धि हय॥
(चैतन्यचरितामृत, अन्त्य० २०)

गौड़ीय वैष्णव-धर्मके मूल आधार साध्य और साधन-तत्त्वका संक्षेप रूप यह है कि 'आनन्दस्वरूप, प्रेम-स्वरूप श्रीकृष्ण ही एकमात्र आराध्य या साध्य-वस्तु हैं। जिस साधनासे उनकी प्राप्ति होती है, वह है—नाम-संकीर्तन। नाम-संकीर्तनमें किसी प्रकारका दुःख-कष्ट नहीं है, विधि-निषेधकी कड़ाई नहीं है; इसकी व्याप्ति सारे देश-काल-पात्रमें है।' उन्होंने यह भी बतलाया है कि 'कर्ममार्ग, योगमार्ग, ज्ञानमार्ग—चाहे किसी मार्गका साधक क्यों न हो, नाम-संकीर्तनके द्वारा वह अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर सकता है।' उनकी यह उदार वाणी सारे धर्म-सम्प्रदायोंके भीतर अपना प्रभाव फैला चुकी है।

श्रीचैतन्यदेवने शिक्षा दी है कि 'नामके प्रभावसे मोची भी शुचि हो जाता है और नाम-विहीन होनेपर ब्राह्मण भी चण्डाल हो जाता है'—

चण्डालोऽपि द्विजश्रेष्ठो हरिभक्तिपरायणः।
हरिभक्तिविहीनस्तु द्विजोऽपि श्वपचाधमः॥

उनकी इस शिक्षाके प्रभावसे अनेकों निम्नश्रेणीके लोग भी उन्नत-जीवन प्राप्त करके गोसाईं या धर्मगुरुके पदपर अधिष्ठित हो गये हैं और ब्राह्मण भी उनका शिष्यत्व स्वीकार कर चुके हैं। इसी कारण वैष्णव-पदकर्ताने गाया है—

'ब्राह्मणे चंडाले करे कोलाकुली, कबे वा छिल ए रंग!'

(ख) अचिन्त्यभेदाभेदवाद

महाप्रभु चैतन्यने प्रयागमें रूपगोस्वामीके साथ तथा काशीमें सनातनगोस्वामीके साथ जो अपूर्व तत्त्व-विचार किया एवं काशीमें प्रकाशानन्द सरस्वतीके साथ उनका जो वेदान्तपर विचार हुआ, उन सबको आधार बनाकर श्रीजीवगोस्वामीने श्रीचैतन्यके दार्शनिक मतको 'अचिन्त्य-भेदाभेदवाद' नाम दिया है। यह अचिन्त्य-भेदाभेदवाद उनकी प्रतिभाका अपूर्व अवदान है।

श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं—'शक्तिमान्‌के साथ शक्तिका जो सम्बन्ध है, ब्रह्मके साथ जीव-जगत् आदिका भी वही सम्बन्ध है; क्योंकि जीव-जगत् आदि सब स्वरूपतः ब्रह्मकी शक्ति हैं। जीव है—ब्रह्मकी जीव-शक्तिका अंश, अतएव ब्रह्मकी शक्ति है। जगत् ब्रह्मकी माया-शक्तिका परिणाम है, अतएव स्वरूपतः ब्रह्मकी शक्ति है। भगवद्धामसमूह ब्रह्मकी चिच्छक्तिके विलास हैं, भगवत्परिकर-वृन्द ब्रह्मकी चिच्छक्ति या स्वरूपशक्तिके मूर्त्त विग्रह हैं। इस प्रकार सब कुछ स्वरूपतः ब्रह्मकी शक्ति होनेके कारण उनके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध भी शक्ति और शक्तिमान्‌का सम्बन्ध ही है।'

किंतु शक्ति और शक्तिमान्‌का वह सम्बन्ध किस प्रकारका है? शास्त्र-प्रमाणकी सहायतासे विचार करके श्रीजीवगोस्वामीने दिखलाया है कि 'शक्ति और शक्तिमान्‌में केवल भेद स्वीकार करनेपर असमाधेय समस्या उठ खड़ी होती है और केवल अभेद स्वीकार करनेपर भी वैसी ही समस्याका उद्भव होता है; अतएव भेद और अभेद, दोनों ही वर्तमान हैं, इन्हें अस्वीकार नहीं कर सकते। अग्नि और अग्निकी दाहिका-शक्तिमें भेद नहीं है; जहाँ अग्नि है, वहाँ उसकी दाहिका-शक्ति है, इसे मानना ही पड़ेगा। पुनः अग्निके बहिर्देशमें भी उसकी दाहिका-शक्ति या उत्ताप अनुभूत होता है, इसे भी अस्वीकार नहीं कर सकते। इस प्रकार इस भेद और अभेदको अस्वीकार नहीं किया जा सकता और न इसका हेतु ही निश्चित किया जा सकता। जिस वस्तुको अस्वीकार नहीं कर सकते और जिसका हेतु भी नहीं बतला सकते, उसे ही अचिन्त्य ज्ञानगोचर वस्तु कहते हैं।'

विष्णुपुराणमें लिखा है—'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्य-ज्ञानगोचराः ।—सब भाव-वस्तुओंकी शक्ति अचिन्त्य ज्ञानगोचर होती हैं ।' श्रीजीवगोस्वामीने दिखलाया है कि शक्ति और शक्तिमान्‌के बीच जो सर्वथा स्वीकार्य—पारस्परिक भेद और अभेद दीख पड़ते हैं, वे अचिन्त्य ज्ञानगोचर हैं । शक्ति और शक्तिमान्‌के बीच जो सम्बन्ध है, उसकी ही किसी एक अचिन्त्य शक्तिके अथवा अचिन्त्य प्रभावके फलस्वरूप उनमें एक साथ भेद और अभेद विद्यमान रहते हैं । यही गौड़ीय वैष्णवाचार्य श्रीजीवगोस्वामीके द्वारा प्रतिपादित 'अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व' है । 'अचिन्त्य' शब्दका अर्थ है–inexplicable,–अव्याख्येय। इसका अर्थ unthinkable—अनिर्वचनीय नहीं है; क्योंकि इस शब्दसे असम्भाव्यता सूचित होती है । शश-शृङ्ग अथवा आकाशकुसुमका अस्तित्व आदि चिन्ताके विषय नहीं हैं, किंतु मिश्रीकी मिठास चिन्ताका विषय है, इसको कहते हैं—inexplicable—अचिन्त्य, अव्याख्येय । ब्रह्मके साथ जीव-जगत्‌का सम्बन्ध भी अचिन्त्य है । आधुनिक युगके विश्व-विख्यात दार्शनिक विद्वान् डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्‌ने भी इसे स्वीकार किया है—"If Philosophy is bold and sincere, it must say that the relation cannot be explained." (Indian Philosophy, By S. Radhakrishnan , Vol. I, P. 186).

'दर्शनशास्त्र यदि साहसी और निष्कपट है तो निश्चय ही कहना पड़ेगा कि इस सम्बन्धकी कोई व्याख्या नहीं दी जा सकती ।'

(ग) गौड़ीय वैष्णव-मतमें वेदान्तसूत्रका गोविन्द-भाष्य

सर्वश्री रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य—ये पूर्वकालीन चार वैष्णव-सम्प्रदायोंके प्रवर्तक हैं । इन्होंने अपने दार्शनिक मतवादकी प्रतिष्ठाके लिये पृथक्-पृथक् भाष्योंकी रचना की है । गौड़ीय वैष्णवमतके प्रवर्तक श्रीचैतन्यदेवने किसी ग्रन्थकी रचना नहीं की। श्रीरूप, सनातन और जीवगोस्वामीने नाना प्रकारके ग्रन्थोंकी रचना की थी, किंतु ब्रह्मसूत्रपर उनकी कोई व्याख्या नहीं है । रूप और सनातनने भक्तिवादकी व्याख्या की है, जीवगोस्वामीने दार्शनिक भित्तिपर 'अचिन्त्यभेदाभेदवाद'को स्थापित किया है । आचार्य बलदेवविद्याभूषणने (अठारहवीं शताब्दी) उपर्युक्त तीनों गोस्वामियोंके चरण-चिह्नका अनुसरण करके ब्रह्मसूत्रके 'गोविन्दभाष्य'की रचना की है । इस भाष्य-रचनाके विषयमें यह इतिवृत्त है—

वृन्दावनके गौड़ीय वैष्णवोंका प्रभाव जब सारे राजस्थानमें फैल गया, तब दूसरे मतवादके वैष्णवलोग कुछ क्षुब्ध हो उठे । वे लोग कहने लगे कि "चैतन्य-मत सिद्धान्त-विरुद्ध है ।" इस बातको लेकर अम्बरपति राजा द्वितीय जयसिंहके समयमें अम्बरमें एक महाविचार-सभा बुलायी गयी । उसमें बलदेवविद्याभूषणने गौड़ीय मतको स्थापित किया। अन्तमें गौड़ीय मतके प्रतिपक्षियोंने पूछा कि "गौड़ीय मत-की स्थापना किस भाष्यके ऊपर प्रतिष्ठित है ?" इसके उत्तरमें बलदेवविद्याभूषणने एक महीनेके भीतर श्रीगोविन्दकी कृपासे गौड़ीयमतके अनुकूल ब्रह्मसूत्रके एक नवीन भाष्यकी रचना की । श्रीगोविन्दकी कृपासे स्फुरित होनेके कारण उस भाष्यका नामकरण हुआ—'गोविन्द-भाष्य' ।

आचार्य बलदेवविद्याभूषणके मतका सार संक्षेपमें यह है—(१) श्रीकृष्ण एकमात्र परतम वस्तु हैं; (२) वे निखिल शास्त्र-वेद्य हैं; (३) विश्व सत्य है; (४) तद्गत भेद भी सत्य है; (५) जीवमात्र श्रीहरिके दास हैं; (६) जीवके साधनगत तारतम्यको अवश्य स्वीकार करना चाहिये; (७) श्रीकृष्णके चरणोंकी प्राप्ति ही मुक्ति है, मुक्तिमें भी तारतम्य है; (८) निर्गुण हरिभजनरूप अपरोक्ष ज्ञान या भक्ति मुक्तिका हेतु है तथा (९) प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द— ये तीन प्रमाण हैं ।

अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व, भक्ति-तत्त्व, प्रेम-तत्त्व और रस-तत्त्व—ये सब गौड़ीय वैष्णव-दर्शनके अपूर्व वैशिष्ट्य हैं। भक्ति या भक्तिके स्वरूपके सम्बन्धमें इस प्रकार अतिसूक्ष्म-रूपसे विश्लेषणात्मिका आलोचना अन्यत्र देखनेमें नहीं आती। गौड़ीय वैष्णव-दर्शनमें रसस्वरूप परब्रह्मके रसत्वकी, अनुपम माधुर्यकी तथा उनके रूप-माधुर्य, गुण-माधुर्य एवं लीला-माधुर्यकी विवृति विशेषरूपमें देखनेमें आती है । शास्त्रविहित विभिन्न साधन-प्रणालियाँ तथा विभिन्न साधनोंके विभिन्न फलोंके सम्बन्धमें भी गौड़ीय वैष्णवाचार्यगणने अपूर्व समन्वय स्थापित किया है। शास्त्रोक्त गुण-महिमा आदिके अनुसार जो स्थान जिसको प्राप्य है, उन्होंने उस स्थानमें ही उसे प्रतिष्ठित किया है । विभिन्न भगवत्स्वरूपके शास्त्रोक्त गुण-महिमा आदिका विचार करके उनमें गौड़ीय वैष्णवाचार्योंने एक समन्वय स्थापित किया है। कोई भी भगवत्स्वरूप

उनके द्वारा उपेक्षित नहीं है । गौड़ीय वैष्णवके मतसे भगवत्स्वरूपकी अवज्ञा अपराध है और भजनमें विघ्नस्वरूप है । गौड़ीय वैष्णवाचार्योंका शास्त्रानुगत्व असाधारण है । जो शास्त्रविहित नहीं है, वे उसको ग्रहण नहीं करते । उनके मतसे पारमार्थिक व्यवहारमें, जो शास्त्रानुमोदित नहीं है, उसका अनुगमन करना व्यर्थ है ।

बँगला वैष्णव-साहित्य-(सोलहवींसे अठारहवीं शताब्दी)

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी वङ्गीय समाज और साहित्यके लिये एक अद्भुत नवजागरणका युग था । महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवके अति अद्भुत व्यक्तित्वने बंगालीके आध्यात्मिक और मानसिक जगत्में एक अपूर्व प्रेरणा ला दी थी । बंगाली जातिके इतिहासमें वे सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे । उनके सम्बन्धमें जो कविने कहा है—'बंगालीर हिया अमिय मथिया निमाई धरे छे काया'—वह सार्थक उक्ति है । उनके जीवन आर शिक्षासे जो एक नयी भावधारा वङ्ग देशमें प्रवाहित हुई, उसके फलस्वरूप वङ्ग-साहित्यमें एक युगान्तर उपस्थित हो गया । मङ्गलकाव्यकी परम्परागत धाराके अनुसरणमें कान्त साहित्य-सृष्टि अकस्मात् एक नूतन और अविरल रस-स्रोतका अनुसंधान प्राप्तकर नवजीवनकी परिपूर्णतामें उच्छ्वसित हो उठी । चैतन्यदेवके भक्त और शिष्य उनके दिव्यभावसे अनुप्राणित होकर वङ्गभाषामें अपनेको प्रकाशित करने लगे । फलतः एक विराट् बँगला वैष्णव-साहित्यकी सृष्टि हुई । चैतन्यदेवने स्वयं वङ्गभाषामें कुछ नहीं लिखा, फिर भी उन्होंने वङ्ग-साहित्यके स्वर्णयुगकी सृष्टि कर दी । स्थूलतः सोलहवीं शताब्दीसे बँगला-साहित्यमें जो सृजनकी बाढ़ आयी, चैतन्यदेव उसके प्रथम कारण थे । इस कारण स्वयं साहित्य-रचयिता न होकर भी चैतन्यदेवने बँगला-साहित्यके इतिहासमें एक विशिष्ट स्थान ग्रहण कर रखा है ।

(क) वैष्णवचरित-साहित्य

श्रीचैतन्यदेव, उनके प्रधान परिकरों तथा श्रेष्ठ वैष्णव साधकोंके पवित्र जीवनचरित लिपिबद्ध होकर बँगला-भाषा और साहित्यको एक नयी दिशा प्रदान करते हैं । केवल देवी-देवता नहीं, मनुष्यके वास्तविक जीवनकी कहानी पढ़कर जो ग्रन्थ-रचना हो सकती है, इनके द्वारा वही प्रमाणित हुआ । इस प्रकार बँगला-भाषामें साहित्यकी एक नयी शाखा, चरित्र-साहित्यका सृजन हुआ । एक नयी प्रेरणाने बंगाली कवियोंके अव्यवहृत इतिहास-बोधको जाग्रत् रखा और वास्तविक चेतनाके ऊपर प्रतिष्ठित जीवन-चरित-रचनाका सूत्रपात किया । चैतन्यदेवकी जीवन-घटनाकी छोटी-से-छोटी कड़ीको लेकर, उनके तीर्थ-भ्रमणका सुविस्तृत वर्णन, उनकी गतिविधिके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मानचित्रके अङ्कनका प्रयास, उनके भ्रमणके साथियोंका विस्तृत परिचय, उनके प्रतिदिनके कार्यकलाप, दैनन्दिनी, रचना—इत्यादिके द्वारा एक नये वास्तविक बोध और सात्त्विक ज्ञानके उन्मेषकी सूचना प्रदान की ।

बँगला-भाषामें रचित चैतन्यदेवके सर्वप्रथम चरित ग्रन्थका नाम 'श्रीचैतन्यभागवत' है । इसके लेखक वृन्दावनदास प्रभु नित्यानन्दके शिष्य थे । वे चैतन्यदेवकी कृपापात्रा नारायणी देवीके पुत्र थे । वृन्दावनदासने १५३८ ई०से १५५० ई०के बीच 'चैतन्यभागवत'की रचना की थी । इस ग्रन्थकी सामग्री मुख्यतः उनको नित्यानन्दप्रभुके द्वारा प्राप्त हुई थी । 'चैतन्यभागवत' तीन खण्डोंमें विभक्त है—आदि, मध्य और अन्त । आदिखण्डमें चैतन्यदेवका प्रथम जीवन, गया-गमनतक वर्णित है, मध्यखण्डमें चैतन्यदेवका गयासे लौटने और संन्यास लेनेके बीचकी घटनाएँ वर्णित हैं एवं अन्त्यखण्डमें चैतन्यदेवके संन्यास-ग्रहणके बादकी कुछ वर्षोंकी घटनाएँ वर्णित हैं । तत्पश्चात् अचानक ग्रन्थको अधूरा ही समाप्त कर दिया गया है । उस समयके नवद्वीपकी सामाजिक अवस्थाका सुन्दर वर्णन चैतन्यभागवतमें मिलता है । भक्त वैष्णवोंके लिये चैतन्यभागवत विशेष श्रद्धाकी वस्तु है और इस ग्रन्थके रचयिता श्रीवृन्दावनदासको वे लोग चैतन्यलीलाके 'वेद-व्यास'की आख्या प्रदान करते हैं ।

इसके बाद जयानन्द १५४८ ई०से १५६० ई०के बीच 'चैतन्य-मङ्गल' की रचना करते हैं । इस ग्रन्थमें चैतन्यदेवके सम्बन्धमें बहुत-से नवीन तथ्य प्राप्त होते हैं; विशेषरूपसे चैतन्यदेवके तिरोधानके सम्बन्धमें । जयानन्दके प्रायः समकालीन लोचनदासने 'चैतन्यमङ्गल'-नामक एक दूसरी चैतन्यकी जीवनी लिखी । लोचनदास प्रथम श्रेणीके कवि थे, इस कारण काव्यकी दृष्टिसे उनके ग्रन्थका मूल्य असाधारण है ।

इसके बाद कृष्णदास कविराजने 'श्रीचैतन्य-चरितामृत'-नामक सुविख्यात चरित-ग्रन्थकी रचना की। वे कटुआके समीप झामटपुर ग्रामके निवासी थे। युवावस्थामें गृह त्याग करके वे वृन्दावन चले गये और रूप-सनातन आदि षट्गोस्वामीगणके समीप रहकर शिक्षा ग्रहण करते रहे। वृद्धावस्थामें उन्होंने वृन्दावनके महात्माओंके अनुरोधसे 'चैतन्य-चरितामृत'की रचना की। यह ग्रन्थ आदि, मध्य और अन्त्यलीला-नामक तीन खण्डोंमें विभक्त है। आदि-लीलामें चैतन्यदेवके संन्यासग्रहणतककी कथा है, मध्य-लीलामें संन्यासग्रहणके बाद छः वर्षतक तीर्थ-पर्यटन और अन्त्यलीलामें शेष जीवनकी लीला वर्णित है। किंतु इसमें चैतन्यदेवके तिरोधानका वर्णन नहीं है। वृन्दावन-दासके चैतन्यभागवतमें जो विषय विस्तृतरूपसे वर्णित हैं, उनका संक्षेपमें उल्लेख करके अन्य विषयोंका उन्होंने विशद वर्णन किया है। चैतन्य-चरितामृत केवल चैतन्यदेवके जीवन-चरितके रूपमें ही उल्लेखनीय नहीं है; इस ग्रन्थकी प्रधान विशेषता यह है कि गौड़ीय वैष्णव-धर्मके सारे मूल-तत्त्व संक्षेपरूपमें सुन्दरतापूर्वक इसमें वर्णित हुए हैं। ग्रन्थ-कारने अत्यन्त सहज-सरल भाषामें जटिल दार्शनिक तत्त्वोंका सुगम वर्णन किया है। यह उनके असाधारण कृतित्वका परिचायक है। कृष्णदास कविराज असाधारण शास्त्रज्ञ पण्डित थे, किंतु ग्रन्थमें नाना प्रकारसे उन्होंने अपना दैन्य प्रकट किया है। बँगला-साहित्यके अन्यतम श्रेष्ठ ग्रन्थके हिसाबसे ही केवल नहीं, भारतीय धर्म-साहित्यमें भी कृष्णदास कविराजके श्रीचैतन्य-चरितामृतको अनेक दृष्टिसे प्रथम श्रेणीका आसन प्रदान किया जा सकता है।

श्रीचैतन्यदेवके परिकर और परवर्ती श्रेष्ठ वैष्णव-साधकोंके पवित्र जीवन-चरितका अवलम्बन करके कुछ मूल्यवान् काव्य-ग्रन्थ सोलहसे अठारहवीं शताब्दीके बीच रचे गये। उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—(१) ईशान नागरकृत 'अद्वैत-प्रकाश'। इसमें अद्वैत आचार्यका जीवन-चरित वर्णित है। रचना-काल है १५६० ई०। (२) नित्या-नन्ददासकृत 'प्रेम-विलास'—सत्रहवीं शताब्दीके आदि-में रचित; श्रीनिवास आचार्यका चरित वर्णित है। नित्यानन्द-दास थे प्रभु नित्यानन्दकी पत्नी जाह्नवी देवीके शिष्य। (३) मनोहरदासका 'अनुराग-वल्ली' ग्रन्थ १६९६ ई०में रचा गया। इसमें मुख्यतः श्रीनिवास आचार्यका जीवन वर्णित है। (४) नरहरिचक्रवर्तीका 'भक्तिरत्नाकर' अठारहवीं शताब्दीमें रचित हुआ। विशेष गुरुत्वपूर्ण विराट् ग्रन्थ है। इसमें विशिष्ट वैष्णव-भक्तोंकी जीवनी, वैष्णव-समाजका इतिहास, विभिन्न वैष्णव-मतवाद तथा नवद्वीप और वृंदावनका उत्कृष्ट वर्णन है। इन सब कारणोंसे 'भक्तिरत्नाकर' अपरिमित मूल्यकी वस्तु है। नरहरिचक्रवर्तीका दूसरा ग्रन्थ है—'नरोत्तम-विलास'। इसमें नरोत्तमदास ठाकुरकी पुण्य जीवनी वर्णित है।

(ख) वैष्णव-पदावली-साहित्य

गौड़ीय वैष्णव-धर्ममें भक्ति-साधनाका मुख्य अङ्ग है—राधाकृष्णकी लीलाका श्रवण-कीर्तन-स्मरण-वन्दन। यह गीतके द्वारा जितना सुन्दरतापूर्वक हो सकता है, अन्य किसी प्रकार वैसा करना सम्भव नहीं है। इसी कारण वैष्णव-भक्तोंमें जो कवि थे, उन्होंने राधाकृष्ण-लीलाका अवलम्बन किया तथा चैतन्यदेवके विषयमें असंख्य गीत या पद लिखे गये। बहुतेरे पद अति उत्कृष्ट हो गये हैं। इस प्रकार बँगलाका विशाल और समृद्ध 'पदावली-साहित्य' तैयार हो गया है। गौड़ीय वैष्णव-धर्मने अपने अद्भुत प्रभावसे जनसाधारणके हृदयके अन्तस्तलमें जो एक अनास्वादित-पूर्व रसधारा प्रवाहित की है, वैष्णव-पदावली-साहित्य उसका प्रकृष्ट प्रमाण है। हृदयके अन्तर्निहित भाव जब उच्छ्वसित हो उठते हैं, तब वे भाषाके रूपमें आत्मप्रकाश करते हैं; उसीसे साहित्यकी सृष्टि होती है। वह जनसाधारणके भावके अनुकूल होनेपर ही आदृत रक्षित तथा प्रचारित होती है। श्रीचैतन्यमहाप्रभु और उनके प्रचारित धर्मका अवलम्बन करके जितना साहित्य-सृजन हुआ है, उसकी इयत्ता नहीं है। निर्धारित पण्डितगोष्ठी या भक्तगोष्ठीने ही वैष्णव-पदावली-साहित्यको तैयार किया हो, ऐसी बात नहीं है। बहुत-से ग्रामीण लोग, जो विद्वान् नहीं, धनी नहीं, समाजमें गण्य-मान्य नहीं थे, वैसे लोग भी गीति-कवितामें अपने अन्तर्निहित भावोंको प्रकट कर गये हैं। जनसाधारणने भी उसे अत्यन्त आदरके साथ ग्रहण किया है। यह सारी गीति-कविता सर्वत्र पुस्तकाकारमें लिखी गयी हो, ऐसी बात भी नहीं है। इस प्रकारकी गीति-कविता मुँहामुँही प्रचरित हुई है। अनेक मुसल्मान कवि भी इस प्रकारकी गीति-कविताकी रचना कर गये हैं। डेढ़ सौसे अधिक कवियोंने पद-रचना करके बँगला-भाषाकी गीतिके साहित्य-भण्डारको अमूल्य रत्नोंसे मण्डित किया है। इनमें प्रथम श्रेणीके कवि बहुत-से

हुए हैं। पदावली-साहित्य प्राचीन बँगला-साहित्यकी श्रेष्ठ सम्पत्ति है।

यह बात सत्य है कि चैतन्यदेवके आविर्भावके पूर्व भी वङ्गदेशमें और मिथिलामें श्रीराधाकृष्णलीला-विषयक पद रचे गये थे; किंतु चैतन्यसे पूर्ववर्ती कवियोंने पद लिखे हैं प्रधानतः अपनी स्वाधीन काव्य-प्रेरणाके वशवर्ती होकर। चैतन्यसे परवर्ती पदकर्ता अधिकांशमें वैष्णव-साधक थे। उनके पदोंके ऊपर उनकी साधनाका प्रभाव पड़नेसे उनमें नवीन वैशिष्ट्य आ गया है तथा पद-रचना भी उनकी साधनाके अङ्गस्वरूप होनेके कारण उन्होंने स्वतः बहुत अधिक पदोंकी रचना की है। इस कारण चैतन्यसे परवर्ती युगका पदावली-साहित्य असाधारण विशाल हो गया है।

चण्डीदास और विद्यापति—(चौदहवीं शताब्दी) के अनुकरणमें बहुत-से कवियोंने बँगला-भाषा और व्रज-भाषामें श्रीराधा-कृष्णविषयक पद-रचना प्रारम्भ कर दी। श्रीकृष्णकी वृन्दावन-लीला उस समय नवीन वैष्णव-दर्शन और मतवाद-के प्रभावमें पड़कर एक विशेष सामञ्जस्यमय व्यापारके रूपमें कल्पित हुई है और चैतन्यदेवकी जीवनी तथा श्रीकृष्णकी वृन्दावन-लीलाके बीच भक्तोंने एक सूक्ष्म कड़ी देखी थी। विषय-वस्तु और रसकी दृष्टिसे पदावली-साहित्य अनुपम वस्तु है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर आदि विभिन्न रसोंकी असंख्य पदावली वङ्गदेशमें रची गयी है। उनमें मधुर रसके तथा श्रीराधाकृष्ण-विषयक पद ही अधिक संख्यामें हैं। वैष्णव-पदावलीमें मानव-जीवनके प्रेम और वेदनाकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विशेषताएँ अलौकिक आध्यात्मिकतासे मण्डित होकर जिस प्रकार अपूर्व कलाकृतिमें अभिव्यक्त होती है, उसकी तुलना विरल है। शताब्दीके बाद शताब्दियाँ चली गयीं, किंतु इन अमृत-निःस्यन्दी पदोंका आकर्षण जैसा प्रथम रचनाके समय था, आज भी प्रायः वैसा ही है। भावकी गम्भीरता, रसकी परिपाटी, आस्वादन-का चमत्कारित्व तथा भजनकी पोषकताकी रक्षाके अनुकूल भावमें, जिससे वैष्णव-पदावली अनुकूल भावमें निपुणतापूर्वक कीर्तित हो सके, इस उद्देश्यसे नरोत्तमदास ठाकुर आदि महात्माओंने अभिनव सुर-ताल आदिका आविष्कार कर दिया है।

डेढ़ सौसे अधिक वैष्णव-पदकर्ताओंकी पदावली पायी गयी है। गोविन्ददास, ज्ञानदास, बलरामदास, नरोत्तमदास, यदुनन्दन, जगदानन्द, वंशीवदन, शशिशेखर, और रायशेखर—इन लोगोंके पद बँगला-साहित्यकी अपूर्व निधि हैं। केवल बंगाली ही वैष्णव पदकी रचना करते हों, ऐसी बात नहीं है; राय रामानन्द, चम्पतिराय, गोपालभट्ट, शिखि माइति, सदानन्द आदि बंगाली नहीं थे; किंतु बँगलाकी वैष्णव-पदावलीमें इनके नाम प्रशंसा और गौरवके साथ लिपिबद्ध हुए हैं। बंगाली-पदकर्ताओंमें कुछ श्रेष्ठ लोगोंका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

(१) **गोविन्ददास कविराज**—(१५३०ई०से १६२० ई०तक) इन्होंने मुख्यतः व्रजभाषामें पद-रचना की है। इनके पदोंकी कवितामें अनुपम माधुर्य है। बहुतोंके मतसे वे सर्वश्रेष्ठ पदकर्ता थे। श्रीखण्डके वैद्यवंशमें इनका जन्म हुआ था। इनके पिता चिरंजीवसेन हुसेनशाहके 'कर्मचारी' और चैतन्यमहाप्रभुके अन्यतम पार्षद थे। अल्पावस्थामें पितृवियोग होनेके कारण गोविन्ददास और उनके ज्येष्ठ भ्राता रामचन्द्र शाक्तधर्मावलम्बी मातामहके आश्रयमें पाले-पोसे गये और मातामहके प्रभावसे स्वयं शाक्त-धर्म ग्रहण कर लिया। किंतु युवावस्थामें श्रीनिवास आचार्यसे उन दोनोंने वैष्णव-धर्मकी दीक्षा ली। उसके बाद गोविन्ददास पदावलीकी रचना करने लगे। उनके अपूर्व पदोंका आस्वादन करके वृन्दावनके महात्माओंने उनको 'कविराज' उपाधिसे विभूषित किया। श्रीजीवगोस्वामीने उनके पदोंकी प्रशंसा करते हुए उनको पत्र लिखा था। गोविन्ददासने पूर्वराग और अनुरागके वर्णनमें प्रेमके सूक्ष्मभावके वैचित्र्यको अपूर्वरूपमें प्रस्फुटित किया है। किंतु उन्होंने सबसे अधिक दक्षता प्रदर्शित की है अभिसार-विषयक पदावलीमें। विशेषतः उनके वर्षाभिसार-सम्बन्धी पद अनुपम हैं। इन पदोंकी शब्द-झङ्कारमें वर्षाके छन्द अद्भुत रीतिसे झङ्कृत हो उठे हैं। गोविन्ददासने अभिसारके अनेक नये-नये परिवेशकी सृष्टि करके अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। उन्होंने 'गौरचन्द्रिका'-नामक पद-रचनामें भी अपूर्व दक्षताका परिचय दिया है। विभिन्न पर्यायकी पदावली गानेके पूर्व गायक लोग चैतन्यदेवके इस पर्यायके भावमें भावित होने-योग्य एक पद गा लेते हैं। ऐसे पदोंका 'गौरचन्द्रिका' नाम है। 'गौरचन्द्रिका' पद-रचनाके श्रेष्ठ कवि गोविन्ददास कविराज हैं।

(२) **ज्ञानदास**—पदावली-साहित्यके एक और श्रेष्ठ कवि हैं—ज्ञानदास। वर्दवान जिलेके अन्तर्गत काँदरा

ग्राममें अनुमानतः १५२० ई०में उन्होंने जन्म लिया था। प्रभु नित्यानन्दकी पत्नी जाह्नवीदेवीके वे शिष्य थे। ज्ञानदासने बँगला और व्रज भाषा दोनों भाषाओंमें पद-रचना की है, किंतु उनके बँगला-पद अधिक उत्कृष्ट हुए हैं। पूर्वरागके पदोंमें उन्होंने प्रेमास्पदके लिये राधाके अन्तस्तलकी तीव्र आर्ति और व्याकुलताको अपरूप भावमें प्रस्फुटित किया है। आक्षेप-अनुरागके पदोंमें प्रेमके कण्टकाकीर्ण पथमें पदार्पण करनेके कारण राधाके आक्षेपको ज्ञानदासने सुन्दर भावमें चित्रित किया है। ज्ञानदास थे एक विशिष्ट वैष्णव-साधक। चैतन्यदेव उनके उपास्य देवता थे। इस कारण उनकी रचनामें चैतन्यदेवका प्रभाव सुस्पष्ट है। ज्ञानदासकी पदावलीमें राधाका जो चित्र अङ्कित हुआ है, उसके ऊपर अनेक स्थलोंमें चैतन्यदेवकी मूर्तिकी छाया पड़ी है। ज्ञानदासके पद-रचना-वैशिष्ट्यकी दृष्टिसे चण्डीदास नामाङ्कित पदोंके समकक्ष हैं। इनके भाव अत्यन्त गम्भीर होनेपर भी भाषा अत्यन्त सरल और प्रसादगुणयुक्त है। ज्ञानदासके बहुत-से उत्कृष्ट पद परवर्ती कालमें चण्डीदासके नामसे चल गये हैं।

(३) **बलरामदास**—सोलहवीं शताब्दीके एक और प्रख्यात पदकर्ता बलरामदास हैं। वे व्रजभाषा और बँगला, दोनों ही भाषाओंमें पद-रचना करते थे, किंतु उनके बँगला-पद ही अधिक उत्कृष्ट हैं। बलरामदासने विशेषतः वात्सल्य-रसात्मक पद-रचनामें दक्षताका परिचय दिया है। इन पदोंमें गोपाल (शिशु-कृष्ण) के लिये यशोदाके मातृहृदयकी आर्तिको बलरामदासने अपूर्व भावमें चित्रित किया है।

(४) **नरोत्तमदास**—सत्रहवीं शताब्दीके विख्यात पद-कर्ता नरोत्तमदास ठाकुर स्वनामधन्य साधु पुरुष थे। वे उत्तर वङ्गके एक जमींदारके पुत्र थे। यौवनमें संन्यास-ग्रहण करके इन्होंने वृन्दावन जाकर लोकनाथ गोस्वामीका शिष्यत्व ग्रहण किया था। पश्चात् वे श्रीनिवास आचार्यके साथ बँगला-देश लौट आये और उत्तर वङ्गमें वैष्णव-धर्मका प्रचार करने लगे। नरोत्तमदास बंगालीकी अत्यन्त परिचित ग्रामीण भाषामें कविता करते थे। उनके पद आडम्बरहीन सौन्दर्यके कारण हमारे मनको हर लेते हैं। प्रार्थना-विषयक पदोंमें नरोत्तमदासने सबसे अधिक दक्षता प्रदर्शित की है। इन पदोंमें भक्त-हृदयकी छाप मर्मस्पर्शी भाषामें अभिव्यक्त हुई है। नरोत्तमदासने कुछ ग्रन्थ-रचना भी की थी। उनमें 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' सर्वापेक्षा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। नरोत्तमदास ठाकुरकी 'प्रार्थना' तथा 'प्रेमभक्तिचन्द्रिका' गौड़ीय वैष्णव-समाजमें सर्वत्र प्रचरित, समादृत और अत्यधिक आलोचित अपूर्व ग्रन्थ है। आध्यात्मिक व्याकुलता और भक्त-हृदयका गम्भीर विश्वास पदोंमें अपूर्वरूपमें झङ्कृत हो उठा है। नरोत्तम केवल एक विशिष्ट-पदावली-रचयिताके रूपमें ही नहीं, बल्कि वैष्णव-रस-कीर्तनके स्रष्टा और श्रेष्ठ कीर्तनियाके रूपमें भी प्रसिद्ध हो गये थे। नरोत्तमदासके शिष्योंमें बड़े पदकर्ता थे वसन्त-राय और शिवराम।

सत्रहवीं शताब्दीके अन्तिम भागसे 'पदावली-चयन' ग्रन्थ संकलित होने लगे। चार पद-संकलन ग्रन्थोंका नाम विशेष-रूपसे उल्लेखनीय है—(१) विश्वनाथकविराजका 'क्षणदा गीत चिन्तामणि' (संकलनका समय सत्रहवीं शताब्दीका अन्तिम दशक है), (२) नरहरिचक्रवर्तीका 'गीतचन्द्रोदय' (अठारहवीं शताब्दीके प्रथम पादमें), (३) राधामोहन ठाकुरका 'पद-समुद्र' तथा (४) वैष्णवदास अर्थात् गोकुलानन्द सेनका 'पद-कल्पतरु' (अठारहवीं शताब्दीके मध्यभागमें)। इनमें 'पद-कल्पतरु' सर्वापेक्षा बृहत् और गुरुत्वपूर्ण संकलन-ग्रन्थ है।

वैष्णवकविने गाया है—

'कृष्ण प्रेम सुनिर्मल जेन शुद्ध गङ्गाजल
सेइ प्रेम अमृतेर सिन्धु।'

यह प्रेम ही वैष्णव-कविताका सार है तथा इसीके प्रभावसे जातिका चित्त सरस, सुन्दर, उन्नत, धर्मानुकूल और भाव-प्रवण हो उठा है। इसके ही प्रभावके साथ पाश्चात्त्य भावधारा मिलकर आधुनिक बँगला-साहित्यको अत्यधिक समृद्ध और प्रसिद्ध कर दिया है। माइकेल मधुसूदन, हेमचन्द्र, नवीनचन्द्र, बिहारीलाल, रवीन्द्रनाथ आदि आधुनिक कविगण इस वैष्णव-साहित्यके माधुर्य और पद-लालित्यका लालन करके नव-नव साहित्यकी सृष्टि कर सके हैं। आधुनिक बँगला-साहित्यमें गौड़ीय वैष्णव-साहित्यका प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विश्वकवि रवीन्द्रनाथके लेखोंमें भी अनेक स्थानोंमें गौड़ीय वैष्णव-धर्मकी भावधारा प्रतिध्वनित हुई है। व्रज-भाषामें रचित वैष्णव-पदावलीका अनुसरण करके रवीन्द्रनाथने 'भानुसिंहेर पदावली' की रचना की है, जो यहाँ उल्लेखनीय है।

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

वे आपकी भी सुन सकते हैं, यदि आप उन्हें सुनाना चाहें

यदि सच्ची चाह हो तो भगवान्‌की दयासे निरन्तर नामजप होना खूब आसानीसे सम्भव है। इसलिये आप मनसे श्रीकृष्णके आगे अपनी चाह प्रकट कीजिये; फिर देखिये भजन अवश्य होगा। मनमें कुछ रखकर ही प्रायः लोग प्रार्थना करते हैं; इसलिये भगवान् भी देखते हैं—'अभी ठीक चाह हुई नहीं, चलो, अभी टाल दूँ।' यदि हृदयकी सारी शक्तिसे भगवान्‌के सामने कोई एक बार भी रोने लगे तो फिर भगवान् उसी क्षण असम्भवको भी सम्भव कर देते हैं। इसलिये आपसे भी प्रेमपूर्वक प्रार्थना है कि निरन्तर नामजपकी सच्ची चाह लेकर आप श्रीकृष्णके सामने रोज नियमित रूपसे प्रार्थना करें। जिस दिन प्रार्थना हृदयसे होगी, उसी क्षणसे भजन होने लगेगा। श्रीकृष्णपर भरोसा करके मनसे उनको कहिये-लिखिये। वे सबकी सुनते हैं और आपकी भी सुन सकते हैं, यदि आप उन्हें सुनाना चाहें।

खूब तेजीसे भगवान्‌की ओर बढ़िये

जीवन तो समाप्त होगा ही, चाहे विषयोंके सङ्गमें बीते अथवा भगवान्‌के सङ्गमें। भगवान्‌की ओर जितना बढ़ियेगा, उतनी शान्ति बढ़ेगी। उनको छोड़कर जगत्‌के किसी भी प्रपञ्चमें सुख खोजियेगा, जलन बढ़ेगी। आजतक जितने संत हुए हैं, वे सब-के-सब यही कह गये हैं। जीवनका भरोसा नहीं है, अतएव खूब तेजीसे भगवान्‌की ओर बढ़िये। अवश्य ही घबरानेकी जरूरत नहीं है। भगवान्‌की पूर्ण कृपा आपके साथ है।

यही सार है—यही करना है

जीवनका प्रत्येक क्षण श्रीप्रिया-प्रियतमके चिन्तनमें बीते, इसके लिये खूब सचेष्ट रहें। इस अनमोल जीवनके समाप्त होनेसे पूर्व ही श्रीप्रिया-प्रियतमको मनमें बसा लिया, तब तो सब कुछ कर लिया, नहीं तो सब कुछ करके भी जीवन व्यर्थ ही समाप्त हो गया—यह सब सर्वथा सच्ची बात है।

भगवान्‌की स्मृति निरन्तर बनी रहे, इसीमें जीवनकी सफलता है। इसीके लिये चेष्टा करनी है।

अनमोल जीवनको दूसरोंकी पापमयी बातोंको देखने-सुननेमें मत खोइये। दूसरेके दोषोंकी ओरसे दृष्टि मोड़कर प्रिया-प्रियतमके चिन्तनमें मन लगाइये—यही सार है।

प्रिया-प्रियतमके रूप-सागरमें मनको डुबा दें, मनको उस सौन्दर्य-समुद्रमें सर्वथा मिलकर एकमेव हो जाने दें। फिर यह संसार नहीं दीखेगा; वे ही दीखेंगे। आपकी जलन सदाके लिये शान्त हो जायगी। यही करना है, यही करना चाहिये।

साधनकी कसौटी

प्रिया-प्रियतमकी स्मृति कैसी और कितनी होती है—सारी साधनाकी कसौटी इसीमें है। यदि उनका विस्मरण हो तो समझना चाहिये कि पथ उलटा है, चाहे वह पथ कितना भी सुन्दर क्यों न दीखे; तथा यदि उनकी स्मृति बढ़ रही है तो पथ कितना भी कँटीला क्यों न दीखे, समझना चाहिये, यही सीधा पथ है।

मेरी इतनी ही सलाह है

मेरी इतनी ही सलाह है कि सत्सङ्गमें जो कुछ भी सुनें, उसको प्रिया-प्रियतमके अखण्ड स्मरणमें परम सहायक बना लें। बस, इससे अधिक मैं क्या लिखूँ—

तनहिं राखु सतसंगमें, मनहिं प्रेमरस भेव।
सुख चाहत हरिबंसहित, कृष्ण-कल्पतरु सेव॥
निकसि कुंज ठाढ़े भए, भुजा परस्पर अंस।
राधाबल्लभ-मुख-कमल, निरखत हित हरिबंस॥
सबसों हित निहकाम मन, बृंदाबन बिश्राम।
राधाबल्लभ लाल कौ, हृदय ध्यान, मुख नाम॥

रसना कटौ जु अनरटौ, निरखि अन फुटौ नैन।
स्रवन फुटौ जो अनसुनौ, बिनु राधा जसु बैन॥

* * * *

और सबसे अन्तिम बात यह है कि निरन्तर नाम लीजिये; और कुछ भी नहीं करना है, सब भगवान् करेंगे।

डायरी—आत्मशोधनका एक साधन

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

डायरी आप रखते हैं ?

जरूर रखते होंगे। आजकलका, पढ़े-लिखे लोगोंका एक फैशन है डायरी।

आपके घरपर, आपकी मेजपर एक-न-एक बढ़िया डायरी होगी। आपने उसे खरीदा होगा या आपको वह कहींसे उपहारमें मिली होगी; पर होगी जरूर।

न होगी तो आप इस तलाशमें होंगे कि ३१ दिसम्बर-तक आपके पास एक डायरी आ जाय।

क्यों ?

१ जनवरीसे आपको उसकी जरूरत पड़ेगी।

* * * *

डायरी रखना अच्छी बात है। बहुत अच्छी बात। पर, डायरी रखनेका कोई उद्देश्य हो, तब तो ठीक।

यों पते लिखनेके लिये अगर आपको डायरी चाहिये, किससे कब मिलना है—यह नोट करनेके लिये आपको डायरी चाहिये, तब तो डायरीका आप वैसा ही उपयोग करते हैं, जैसा कुछ लोग चाबी बाँधनेके लिये जनेऊका।

* * * *

डायरीका मुख्य उद्देश्य है—आत्मशोधन।

दिनभरका लेखा-जोखा रखनेके लिये डायरी होती है, पर उसमें यदि हम सिर्फ यही लिखें कि कब उठे, कब खाया-पिया, कब कामपर गये, कब लौटे और कब सोये—तो आपकी ५० सालकी डायरी उलटनेपर इतना ही फलितार्थ निकलेगा—

'क्या कहें अहबाब तो
कारेनुमाया कर गये,
बी० ए० किया नौकर हुए,
पेंशन मिली और मर गये!'

* * * *

डायरी होती है, जीवनको एक अच्छा मोड़ देनेके लिये।

डायरी होती है, जीवनको ऊपर उठानेके लिये।

डायरी होती है, आत्मशोधनके लिये।

डायरी लाला करोड़ीमल भी लिखते हैं, कतवारू साहू भी और थानेके मुंशीजी भी।

लाखों ही नहीं, करोड़ों लोग डायरी लिखते हैं, पर आत्मशोधनकी दृष्टिसे तो विरले लोग ही डायरी लिखा करते हैं।

और मैं मानता हूँ कि डायरी लिखी जाय तो केवल इसी दृष्टिसे कि मुझे आत्मशोधन करना है, आत्मनिर्माण करना है। इस उद्देश्यको सामने रखकर यदि मैं डायरी लिखता हूँ, तब तो ठीक, अन्यथा कागज काला करनेसे क्या लाभ ?

जो मनुष्य सत्यका शोधक है, जीवनको ऊपर उठाना चाहता है, उसके लिये यह जरूरी है कि वह सतत आत्मचिन्तन करता रहे। हमारे मनोमन्दिरमें जाने-अनजाने अनेक कुसंस्कार घुस जाते हैं; उनसे हमें अपना बचाव करना है। हममें सहज ही या जान-बूझकर अनेक बुराइयाँ घुस आयी हैं; उन्हें हमें निकाल बाहर करना है।

इस विवेचनमें डायरी हमारी मदद कर सकती है। मानसिक विकारोंका पता लगाना और उन्हें पूरा प्रयत्न करके निर्मूल करना ही तो साधना है। बापूको इसका पता था। इसीसे उन्होंने लिखा था—

'डायरीका विचार करके देखता हूँ तो मेरे लिये तो वह अमूल्य वस्तु हो गयी है। जो सत्यकी आराधना करता है, उसके लिये वह पहरेदारका काम करती है; क्योंकि उसमें सत्य ही लिखना है। आलस्य किया हो तो भी लिखनेसे ही छुटकारा। यों वह सब तरहसे पहरेदार हो जाती है।'

* * * *

हम सबकी एक सामान्य प्रवृत्ति है—अपनेको अच्छा मानना। हम गल्ती भी करते हैं तो मानते हैं कि हमने ठीक किया; हमारी परिस्थितिमें कोई दूसरा होता तो वह भी वही करता, जो हमने किया। पर दूसरेकी एक मामूली-सी भी गल्ती हम बर्दाश्त करनेको तैयार नहीं।

डायरीमें यह नहीं चल सकता।

वहाँ तो आपको छोटे-से-छोटे दोषको भी कबूल करना होगा, सो भी स्पष्ट शब्दोंमें।

क्यों ?

इसलिये कि सत्यनारायण हमारा साक्षी है; उसकी नजरसे हम कुछ छिपा नहीं सकते। हमें छिपाना भी नहीं चाहिये।

बापूने कहा था—'हाँ, डायरी लिखनेकी एक शर्त है। हमें सच्चा बनना होगा। उसके अभावमें डायरी खोटे सिक्के-सी हो जाती है। पर यदि उसमें सत्य हो तो वह सोनेकी मुहरसे भी कीमती हो जाती है।'

* * * *

बापूकी आत्मकथाको उठा लीजिये, टाल्सटायकी आत्मकथाको उठा लीजिये और भी किसी महापुरुषकी आत्मकथाको उठा लीजिये—आप देखेंगे कि सद्गुणोंका विकास करनेमें उन्हें कितना-कितना संघर्ष करना पड़ा है। जीवनमें कैसे-कैसे मानसिक द्वन्द्व आते हैं, इसका पता किसे नहीं ? पर उन्हें सचाईसे कबूल कितने लोग करते हैं ?

नवम्बर ४—

कोशिश तो हम सबकी यही रहती है कि लोग यही समझें कि हम बिलकुल पाकसाफ हैं, दूधके धोये हुए हैं; पर पाकसाफ होना कितना कठिन है, यह आप अपनेसे ही पूछ देखिये।

उसकी बातोंसे समझ रखा
तुमने उसे खिज्र,
उसके पाँवों को तो देखो कि
किधर जाते हैं ?

* * * *

बापूने अपने लिये और अपने आश्रमवासियोंके लिये ११ व्रत निश्चित किये थे—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शारीरिक श्रम, सर्वधर्म-समभाव और स्वदेशी। सभी इनका पालन करते थे। विनोबा सन् १९१७में बापूके आश्रमसे एक सालकी छुट्टी लेकर बाहर गये। उन्होंने वहाँसे बापूको जो पत्र लिखा, वह महादेव भाईकी डायरीमें छपा है। उसमें मानो उनकी सालभरकी डायरी है। क्या-क्या पढ़ा, कैसे स्वास्थ्य सुधारा, क्या खाया, क्या पिया, अन्य बातोंका कैसे पालन किया—सब लिखा है। वे लिखते हैं—

'पहले १०-१२ मील घूमना शुरू किया। बादमें ६ से ८ सेरतक अनाज पीसना शुरू किया। आज ३०० सूर्य-नमस्कार और घूमना यह सब व्यायाम है।

'आहार—पहले ६ महीनेतक तो नमक खाया, बादमें उसे छोड़ दिया। मसाले वगैरह बिलकुल नहीं खाये। आज मेरी खुराक है—दूध डेढ़ सेर, भाखरी केला ४-५ और नीबू १ (मिल जाय तो)।

'स्वादके लिये और कोई चीज खानेकी इच्छा नहीं होती। फिर भी मेरा यह आहार बहुत अमीरी है, ऐसा महसूस करता हूँ। रोजका खर्च लगभग =)॥। है।

'अपरिग्रह—लकड़ीकी थाली, कटोरी, आश्रमका एक लोटा, धोती, कम्बल और पुस्तकें—इतना ही परिग्रह रखा है।'

'सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य—इन व्रतोंका पालन अपनी जानकारीमें मैंने ठीक-ठीक किया है, ऐसा मेरा विश्वास है।'

* * *

विनोबाका यह पत्र पढ़कर बापू गद्गद हो उठे। उनके मुँहसे निकल पड़ा—'गोरखने मछन्दरको हराया; भीम हैं भीम।'

* * *

जीवनका ऐसा लेखा-जोखा हो, तब तो डायरी डायरी है; वर्ना वह है केवल काला कागज।

बैंजमिन फ्रैंकलिन १८वीं शताब्दीमें अमेरिकाके एक बहुत साधारण-से घरमें पैदा हुआ; पर उसने अपने गुणोंसे, अपने आत्मशोधनसे बहुत उन्नति की।

उसकी आत्मकथा सबके लिये प्रेरणाकी वस्तु है।

फ्रैंकलिनको उसके बापने सोलमनकी यह कहावत सुनायी—

'मेहनत करो, जमकर मेहनत करो, तुम राजाओंके सामने खड़े हो सकते हो, नीचे दर्जेके लोग तुम्हारा सामना करनेकी हिम्मत न करेंगे।'

बैंजमिनके यह कहावत लग गयी; उसने मेहनत की, जी-तोड़ मेहनत की, ईमानदारीसे मेहनत की। उसे लक्ष्मी भी मिली, सम्मान भी मिला। इतना ही नहीं, वह कहता है—'मैं कभी सोच भी नहीं सकता था कि यह कहावत अक्षरशः सही उतरेगी और मुझे राजाओंका साक्षात्कार हो सकेगा; पर दरअसल मुझे पाँच राजाओंके साक्षात्कारका मौका मिला और डेन्मार्कके राजाके साथ बैठकर तो मैंने भोजन भी किया।'

बैंजमिन फ्रैंकलिन जब जीवनमें प्रवेश कर रहा था, तभी उसने महसूस किया कि उसे अपनेमें कुछ विशिष्ट गुणोंका विकास करना चाहिये।

वह कहता है—'मुझे लगा कि सत्य, ईमानदारी, प्रामाणिकता आदि गुण मानवीय व्यवहारके लिये परम आवश्यक हैं; जीवनके विकासके लिये अनिवार्य हैं। मुझे इन गुणोंका अपने जीवनमें विकास करना है। मैं इनका अभ्यास करूँगा।'

उसने अपने लिये १२ गुण छाँटे थे; अभ्याससे धीरे-धीरे उसने इन सब गुणोंका अपनेमें विकास कर लिया। वे गुण ये हैं—

१—खान-पानमें संयम—इतना न खाओ कि पेट भारी हो जाय, आलस्य आने लगे।

२—वाणीका संयम—मतलबभर बोलो। वही बोलो, जिससे दूसरेका हित हो; फालतू बातें मत करो।

३—व्यवस्थितता—तुम्हारी हर चीजका एक ठिकाना हो; हर कामका निश्चित समय हो।

४—निश्चय—जो तुम्हें करना चाहिये, उसे पूरा करनेका निश्चय करो। जो निश्चय करो, उसे अवश्य ही पूरा करो।

५—मितव्ययिता—व्यर्थ खर्च न करो। या तो अपने लिये जरूरी चीजोंपर खर्च करो या दूसरोंके हितके लिये खर्च करो। एक पाईकी भी फिजूलखर्ची न करो।

६—अध्यवसाय—समय बर्बाद न करो। हर समय किसी उपयोगी काममें लगे रहो। अनावश्यक काम बंद कर दो।

७—ईमानदारी—किसीको धोखा न दो। मन-वचन-कर्मसे ईमानदार रहो।

८—न्यायपरायणता—किसीको सताओ मत। किसीका वाजिब हक न मारो। यदि किसीको तुमसे लाभ हो सकता हो तो उसे उस लाभसे वञ्चित मत करो।

९-संयम—अतिसे बचो। सहनशील बनो।

१०-सफाई—शरीरमें, कपड़ोंमें, निवासस्थानमें, व्यवहारमें रत्तीभर भी गंदगी न आने दो।

११-स्थिरता—छोटी-छोटी बातोंसे या अनिवार्य और सामान्य घटनाओंसे विचलित न होओ।

१२-ब्रह्मचर्य—इन्द्रियोंको वशमें रखो। कामासक्त न होओ। संतानोत्पत्तिके लिये ही गृहस्थधर्ममें प्रवृत्त होओ।

बैंजमिनने एक डायरी बनायी। ये सभी गुण उसमें लिखकर उसने सप्ताहके सात-सात दिनोंके खाने बना लिये और रोज अपनेको कसौटी-पर परखने लगा। एक दिन एक व्यक्तिने उससे कहा कि 'लोग तुम्हें घमंडी कहते हैं; तुम्हारी बातचीतमें घमंड टपकता है।' उसने तेरहवाँ गुण जोड़ लिया—

१३-नम्रता—ईसा और सुकरात-जैसे महापुरुषोंके समान नम्र बनो।

* * *

फ्रैंकलिनने अपने दैनिक जीवनकी, रोजके हर घंटेकी डायरी बनायी। १० से ४ बजेतक रातमें सोनेका समय रखा।

उसकी डायरीमें रोज सुबह उसके सामने एक प्रश्न रहता—

'आज दिनमें कौन-सा अच्छा काम करूँगा ?'

शामको वह लिखता इस प्रश्नका उत्तर—

'आज दिनमें मैंने कौन-सा अच्छा काम किया ?'

* * *

अपने दोष आप ही जानते हैं, आप ही जान सकते हैं। आप भी अपनी आवश्यकताके अनुसार अपनी डायरीमें अपने लिये आवश्यक गुणोंकी सूची बना सकते हैं।

अपने दोषोंको मिटाइये, गुणोंको चुन-चुनकर ग्रहण करिये। रोज अपनेको कसौटीपर कसिये। आप देखेंगे कि डायरी आपके आत्मशोधनका साधन बन रही है। दृढ़तासे आगे बढ़िये; प्रभु आपकी सहायता करेंगे।

'हिम्मते मर्दां, मददे खुदा।'

क्या शान्त-रसमें भक्ति-रसका अन्तर्भाव सम्भव है ?

(लेखक—डा० श्रीसुवालालजी उपाध्याय 'शुकरत्न, पी-एच्० डी०, साहित्याचार्य, शिक्षा-शास्त्री)

रस-सिद्धान्त काव्यके अनुपम आनन्दकी व्यवस्था-मूलक व्याख्या है। संस्कृत-काव्यशास्त्रके लगभग दो हजार वर्षोंके इतिहासमें रस-संख्यापर निरन्तर विमर्श चलता रहा है। विभिन्न आचार्योंने रसके एक, आठ, नौ, दस, बारह अथवा असंख्य भेदोंकी ओर संकेत किया है। यद्यपि नाट्याचार्य भरतकी परम्पराका सम्मान करनेवाले अनेक परवर्ती दिग्गज आचार्योंने नौके आस-पास ही रसोंकी संख्या रखनेका समर्थन किया है। अन्य सम्भावित रसोंका अन्तर्भाव या तो उन्होंने नौ रसोंमें ही करनेका प्रयत्न किया[1] है अथवा उनको भाव-कोटिमें ही रखकर संतोष कर लिया है।[2]

आचार्य अभिनवगुप्तपादने, नाट्यशास्त्रके पाठभेदके आधारपर, भरतके द्वारा 'शान्त'के साथ नौ रसोंकी मान्यताका प्रबल समर्थन किया है और इतना ही नहीं, शैव-दर्शनकी चेतनाके अनुरूप 'शान्त'को ही स्वतन्त्रतम और मूलरस प्रतिपादित करनेके लिये विशेष कष्टसाध्य परिश्रम करके रसके नौ भेदोंको मान्यता प्रदान की है। शान्तके मूलस्वरूपकी व्याख्या अत्यन्त विशदरूपमें अभिनवभारतीके एक पूरे उपकरणमें की गयी है। उन्होंने स्पष्टतः भक्तिके रसत्वका प्रत्याख्यान करके उसे शान्तमें ही अन्तर्भूत कर दिया है।[3] स्नेह-रसकी पृथक् सत्ताका भी निषेध किया है।[4]

अभिनवगुप्तने भक्ति तथा अन्य रसोंके स्वतन्त्र अस्तित्वके प्रत्याख्यानमें जहाँ अपनी युक्तियोंका सहारा लिया है, वहाँ मुनिवचन और विद्वत्-परिषद्की मान्यताको भी प्रमाणस्वरूपमें उद्धृत किया है।[5]

यद्यपि भक्ति-रसकी स्वीकृतिके सम्बन्धमें अनेक प्रश्न हैं। क्या यह मनुष्य-मनका मौलिक-भाव नहीं है ? फिर स्थायीभाव कैसे ? इसको भाव माननेमें क्या आपत्ति है ? क्या भक्तिकी रस-रूपमें अनुभूति हो सकती है ? संस्कृत-काव्य-शास्त्रके आचार्योंने भक्ति-रसको मान्यता क्यों नहीं दी ? साहित्यशास्त्रमें सिद्धान्ततः मान्यताप्राप्त विविध दार्शनिक भूमियोंपर अधिष्ठित, रस-निष्पत्तिविषयक सिद्धान्तोंका वैष्णव-दर्शन एवं भक्ति-रस-निष्पत्तिके साथ कैसे सामञ्जस्य बैठाया जा सकता है ? उसमें परस्पर साम्य और वैषम्य

१—(क) एवं ते नवैव रसाः, पुमर्थोपयोगित्वेन रञ्जनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात् (अभिनव भारती ६। ८३)

(ख) प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः। हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः॥ (दशरूपक ४। ८३)

(ग) रसानां नवत्वगणना च मुनिवचननियन्त्रिता भज्येत, इति यथाशास्त्रमेव ज्यायः। (रसगङ्गाधर, पृष्ठ १७६। चौखम्बा संस्करण)

२—रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः—(काव्यप्रकाश ४। ३५)

३—(क) अत एवेश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्योऽन्यथैवाङ्गमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम्। (अभिनवभारती, अध्याय ६ पृ० ३४०।)

(ख) एवैव गर्वस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या। हासे वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात्। एवं भक्तावपि वाच्यमिति। (वही, अ० ६ पृष्ठ ३४१।)

४—अभिनवभारती, अ० ६ पृष्ठ ३४१।

५—अभिनवभारती, अ० ६ पृष्ठ ३४०।

क्या हैं ? अभिनवगुप्तपाद आदिकी मान्यताओंसे वैष्णव-दर्शनकी मान्यताएँ विविध दृष्टियोंसे भिन्न हैं, अतः क्या भक्ति-रस-निष्पत्तिमें साहित्यशास्त्रीय मान्यताओंको अपने प्रचलितरूपमें ही ग्रहण किया जा सकता है ? इसका परम्परागत शान्त और शृङ्गारमें अन्तर्भाव क्यों नहीं हो सकता ? इन विविध प्रश्नोंमेंसे, केवल शान्तमें भक्ति-रसके अन्तर्भावके प्रश्नको लेकर ही प्रस्तुत लेखमें विचार किया जा रहा है ।

यह विचारणीय है कि यद्यपि शान्त और भक्ति, दोनों सुखात्मक प्रकृतिके हैं, भगवत्प्राप्ति ही दोनोंका उद्देश्य है । विषय-वैराग्य, साधन-सम्पत्ति आदिमें भी कुछ-कुछ समानता है, फिर भी भक्तिका अन्तर्भाव शान्त-रसमें क्यों नहीं हो सकता ? संस्कृत काव्यशास्त्रके आचार्योंमें सर्वप्रथम विश्वनाथने इसका निषेध किया है ।[६] यद्यपि उन्होंने इसका कोई प्रमुख कारण तो नहीं बताया, केवल इतना ही लिख दिया है कि दयावीर देवताविषयक रति आदिमें अहंकारकी मात्रा रही है, किंतु शान्तमें अहंकारका किंचिन्मात्र भी सद्भाव नहीं होता । इसलिये उनका शान्तमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता । उनका यह कथन मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे ठीक है; क्योंकि भक्तमें यह अभिमान तो रहता ही है कि प्रभु मेरे उपास्य हैं और मैं उनका उपासक हूँ तथा अपने प्रभुसे कुछ न चाहते हुए भी भगवत्प्रेम-भावनाकी पुष्टिमें एक अनिर्वचनीय परमानन्दस्वरूप भगवान्‌का भोग कर रहा हूँ; अर्थात् भगवान् मेरे भोग्य हैं, इस भावनाकी भोक्तृत्व-वृत्ति तो रहती है, जबकि शान्तमार्गका पथिक भोक्ता-भोग्यकी भावनाका बाध कर देनेमें ही अपनेको कृतकृत्य मानता है ।

शान्तमें भक्ति-रसके अन्तर्भावका निषेध पण्डितराज जगन्नाथने भी किया है । उनका कहना है—'भक्तिरसका स्थायीभाव अनुराग है और शान्तरसका वैराग्य । ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं । फलतः विरुद्ध स्थायीभाववाले रसोंका एक-दूसरेमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।'[७] इसपर यदि यह कहा जाय कि भक्तिमें अनुराग ईश्वरके प्रति और विराग संसारके प्रति रहता है; अतः आलम्बन-भेद होनेसे दोनोंका वैसे विरोध सिद्ध नहीं होता, जैसे रस-गङ्गाधरके रचयिताने परिकल्पित कर लिया है ।[८]—यह कथन उपयुक्त नहीं; क्योंकि भक्ति-भावनाकी उत्कटतासे भक्तका सम्पूर्ण जीवन भगवदीय रससे भींगा रहता है । उसे वैराग्यके लिये पृथक्‌से कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता; वह तो अपने-आप ही उसके पीछे लगा फिरता है;[९] जबकि शान्त-रसका साधक, प्रयत्नपूर्वक निरन्तर वैराग्य-भावनाको जगाये रखता है; क्योंकि उस मार्गके पथिकके लिये विरागी होना एक आवश्यक शर्त है । उसमें अनुरागकी तीव्रता नहीं होती, फलतः 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'—इस नियमके अनुसार वह शान्तरस ही है । उसका मार्ग पृथक् है, उसमें भक्तिका अन्तर्भाव नहीं हो सकता । कुछ लक्षण देखकर अन्तर्भाव या नामकरण करना उचित नहीं । शान्तमें अनुरागकी तीव्रता आ जानेपर उसकी गणना भक्तिरसके एक प्रभेद शान्त-रतिमें होने लगेगी ।

मधुसूदनसरस्वतीका कहना है कि 'भक्ति-रसके लिये अपेक्षित द्रुतचित्तता शान्तमें नहीं होती, अतः भक्तिरससे उसकी कोई तुलना नहीं है ।'[१०] शान्तमें जिस ज्ञान-वैराग्यकी उपस्थिति अनिवार्य मानी जाती है, भक्तिरसके प्रतिष्ठापक आचार्य रूपगोस्वामीने उनको भक्तिका अङ्ग भी स्वीकार नहीं किया है ।[११] उनके अनुसार क्रमशः कठिन तर्क-वितर्क और दुःख-बुद्धिसे उत्पन्न होनेके कारण चित्तको कठोर बना देनेवाले ज्ञान और वैराग्य सुकुमार-स्वभावा भक्तिके अङ्ग नहीं हो सकते । मोक्ष, जो शान्तका

६—निरहंकाररूपत्वाद् दयावीरादिरेष नो । आदि शब्दाद् धर्मवीरदेवताविषयकरतिभावप्रभृतयः । (साहित्यदर्पण ३ । २५० की वृत्ति ।)

७—न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भवितुमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात् । (रसगङ्गाधर, पृष्ठ १७४ ।)

८—डा० जगदीश गुप्तः 'हिंदी-साहित्य-कोश', पृष्ठ ५७७, द्वि० सं० ।

९—तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥
(भाग० ११ । २० । ३१)

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥
(भाग० १ । २ । ७)

१०—भक्ति-रसायन २ । २५-२९ ।

११—ज्ञानवैराग्ययोर्भक्तिप्रवेशायोपयोगिता ।
ईषत्प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः ॥
यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सताम्मते ।
सुकुमारस्वभावेयं भक्तिस्तद्धेतुरीरिता ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व० २ । ५६-५७)

अन्तिम लक्ष्य है, भक्ति-मार्गमें उसकी स्पृहा पिशाचीकी तरह वर्जनीय है[12]। इस प्रकार मार्ग-भिन्नता बताकर रूपगोस्वामीने शान्त-रसके मूलपर ही प्रहार कर दिया, जिससे शान्त-रसमें भक्ति-रसके अन्तर्भावका प्रश्न ही नहीं बनता।

शान्तमें जगत्के सभी सम्बन्ध त्याज्य हैं। उसमें तृष्णाका क्षय परम काम्य है; किंतु भक्तिमें जगत्के उन सभी सम्बन्धोंको वर्जित न करके, उन सभीकी ममताकी मोटी रस्सी बनाकर प्रभुचरणोंमें बाँधना, संसारके सारे बन्धनों और सम्बन्धोंको परमात्मासे जोड़ना है[13]। शान्तका आत्मज्ञान भक्तिमें अनिवार्य नहीं; उसका सुख-केन्द्र आत्म-विश्रान्ति है, भक्तिका भगवत्प्राप्ति। भक्तिका दैन्य शान्तमें नहीं है—भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम्।

शान्त निर्भेद ब्रह्मानुसंधान करता है; भक्त सद्घन, चिद्घन, प्रेमानन्दैकविग्रह प्रभुका समर्चन। भक्ति-मार्ग सभीके लिये उन्मुक्त है—शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता[14] सुलभ भी है—धावन्निमील्य वा नेत्रे न पतेन्न स्खलेदिह[15]। ज्ञान-मार्ग तलवारकी धारपर चलनेके समान दुर्गम है—क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति[16]। अव्यक्तकी उपासना अति कठिन और नीरस है[17] और फिर जिसका आनन्द अव्यक्त है, वह उपासकको आनन्दित भी कैसे करेगा ? अव्यक्तमें आनन्दका उल्लास कहाँ ? ज्ञान-मार्गमें अधिकारि-भेदकी भी जटिल समस्या है।

भगवान्के त्रिभुवनरमणीय लोकोत्तर सौन्दर्य और अपरिमेय अनन्त आकर्षणको भावात्मक इन्द्रियोंसे देख-सुनकर भक्तके मनमें जो उन्मत्त और पागल बना देनेवाली उत्कट रसानुभूति आविर्भूत होती है, वह शान्तमें सर्वथा असम्भव है। महाप्रभुचैतन्यका जीवन इसका मूर्तिमान् उदाहरण है। भागवतकारने ब्रह्म-सिद्धिके लिये भी भक्तिपथके उत्कृष्टतम होनेकी घोषणा की है—

> न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
> सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥
>
> (श्रीमद्भागवत ३। २५। १९)

शान्त प्रायः स्वकेन्द्रित होता है। इधर भक्त अकेला ही कल्याणी सृष्टिका यात्री नहीं बनना चाहता; वह समस्त समाजको भक्ति-सुरसरितसे आप्लावित करता हुआ आगे ले जानेका प्रयत्न करता है। मानव-चेतनाकी मूलवृत्ति रागात्मक-भावनाकी प्रबल प्रेरकताका स्वात्मविश्रान्त शान्तमें नितान्त अभाव ही दिखायी पड़ेगा। मनोविकारोंसे रहित विरतिपूर्ण शान्तमें चित्तवृत्तियोंके रमनेका अवकाश ही कहाँ रहता है ?

म०म०पं०श्रीगोपीनाथ कविराजके अनुसार 'साधना' जगत्का एक रहस्य है। सिद्धावस्थामें यहाँ एक ऐसी स्थिति आती है, जबकि योगी इच्छाशक्तिकी उपेक्षा करके भक्तिकी ओर उन्मुख होता है।—उसे उससे किसी भी प्रयोजन-सिद्धिका उद्देश्य नहीं रहता। तथापि वह उसको चाहे बिना रह नहीं सकता[18] 'त्रिपुरा-रहस्य'[19] तथा बोधसारमें[20] अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें यही कहा गया है।

१२—भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व० १। २। २२)

१३—सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
(रामचरितमानस ५। ४७। २½)

१४—भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व० १। २। ६७।

१५—भागवत ११। २। ३५।

१६—कठोपनिषद् ३। १४।

१७—गीता १२। ५।

१८—कल्याण, उपासना-अङ्क, पृष्ठ ६९४।

१९—स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम्।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः॥
(त्रिपुरारहस्य, ज्ञानखण्ड २०। ३४)

'अपने अद्वय पदको जानकर भी योगी स्वभावके स्वारस्यसे भेदभावका आश्रय ले अत्यन्त तत्परतापूर्वक इष्ट देवताकी सेवा करते हैं।'

२०—सर्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥

'भेद-भावके गलित हो जानेपर भी शुद्धबुद्धि पुरुषको भक्तिभावसे सर्वेश्वरकी आराधना करनी चाहिये। यद्यपि चित्त प्राणेश्वरसे मिलकर एकाकार हो गया है तो भी चतुर नायिकाको उचित है कि वह प्राणेशको अञ्चलकी ओटसे ही देखे।'

भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्। (बोधसार)

'भक्तिके लिये कल्पित द्वैतभाव अद्वैतसे भी सुन्दर—मनोरम होता है।'

इस प्रकार अद्वैतकी ओर उन्मुख शान्त-रसका साधक पुनः इस सरस भावकी ओर मुड़कर अद्वैतमें द्वैत-रसानन्दका अनुभव करना चाहता है; इसमें द्वैताद्वैतका यह अनुपम मणि-काञ्चन संयोग है।

शंकराचार्यके नामसे प्रसिद्ध पद्यमें कहा गया है—'हे नाथ! भेदके दूर हो जानेपर भी मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं; तरंग समुद्रका हुआ करता है, किंतु समुद्र तरंगोंका नहीं।'[२१] तुलसीदास भी इसी बातका एक अन्य तर्कद्वारा समर्थन करते हैं—'जैसे जल भूमिके बिना, आधारके अभावमें करोड़ों उपाय करनेपर भी किसी तरह ठहर नहीं सकता, वैसे ही मोक्षानन्द भी हरिभक्तिको छोड़कर, किसी तरह भी नहीं रह सकता।'[२२] भागवतमें इस विचारके पोषक अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।[२३] इससे भक्ति-रसकी शान्तसे उत्कृष्टता सिद्ध होती है; फिर उसका शान्तमें अन्तर्भाव कैसे सम्भव है?

दोनोंके पथ भी पृथक्-पृथक् हैं। भक्ति-रस लोकोत्तर अनुराग-रागरञ्जित है। भक्ति मृदु, मधुर, सुकुमार-स्वभावा है, शान्त कठोर है, वैराग्य-प्रधान है। भक्ति 'स्वादु स्वादु पदे पदे' पुलक, रोमाञ्च, अश्रुपात—जैसे अतिप्रिय, स्वयंको भी विस्मृत करा देनेवाले (उन्मत्तवन्नृत्यति लोकबाह्यः) अनुभावोंसे अनुभवनीय, भगवदेक-शरण्य है; शान्त इनसे शून्य 'सोऽहमस्मि' की अखण्ड वृत्तिमें अवस्थित, संसारके मिथ्यात्वके दृढ़ निश्चयमें लगा हुआ, असङ्ग, निज-सम्बल-परतुष्ट-स्वभाव है। शान्त निस्तर महोदधिकल्प समरस है, भक्ति-रस मृदु भावनाओंकी असंख्य तरंगोंसे लहराता हुआ अमृतका सागर है। फलतः भक्ति-रसका अन्तर्भाव शान्तमें करना उचित प्रतीत नहीं होता। अपने साथ भगवदनुरागके युक्त होनेपर, वही 'शान्त-रति'-के रूपमें भक्ति-रसमें अन्तर्निविष्ट है। अन्तःकरणकी सविशेष भगवदाकाराकारित स्निग्धावृत्ति ही 'भक्ति' है और अन्तःकरणकी द्रवतानपेक्ष महावाक्यजनित निर्विशेष ब्रह्मकाराकारित वृत्ति ही 'शान्त-रस' है। मधुसूदनसरस्वतीने ब्रह्म-विद्या और भक्तिका भेद अनेक आधारोंद्वारा स्पष्ट किया है।[२४]

सच पूछा जाय तो भक्त ब्रह्मानन्दको प्रेमानन्दका सबसे बड़ा आवरण मानते हैं; क्योंकि प्रेमानन्दकी आधारभूत आकृति और गुण, ब्रह्मानन्दमें मायाकल्पित कहकर छोड़ दिये जाते हैं; भक्त तो करोड़ों ब्रह्मानन्द-चमत्कारके समान भक्ति-रस है, इस कथनको भी लज्जाजनक स्वीकार करते हैं।[२५]

२१–सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

(षट्पदी)

२२–जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥

(रामचरितमानस ७।११८।३)

२३–आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(भागवत १।७।१०)

'भगवान् श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं कि जिनके हृदयकी अज्ञान-ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो गयी है, वे आत्माराम मुनि भी उनमें अकारण भक्ति करते हैं।'

२४–भक्तिरसायन (प्रथम उल्लास)।

२५–(क) कृष्णदास अभिमाने ये आनन्दसिन्धु।
कोटि ब्रह्म सुख न हय तार एक बिन्दु। (चै० च०, आदि० ६।४८)

(ख) ब्रह्मानन्दचमत्कारकोटिं जनयते रसः। ईदृगुक्तिस्तु भक्तानां लज्जां जनयति स्फुटम्॥

(भक्ति-रस-तरङ्गिणी, नारायणभट्ट, पृ० ५७)

रामभक्त श्रीबनादास

(लेखक—डा० श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

गोस्वामी तुलसीदासकी परवर्ती रामभक्ति-धारामें महात्मा बनादासका स्थान अन्यतम है। इनका जन्म गोंडा जिलेके अशोकपुर-नामक गाँवके एक क्षत्रिय-परिवारमें पौष शु० ४, सं० १८७८ वि०को हुआ था। बाल्यावस्थामें ही इन्होंने पुनर्जन्म न लेनेका निश्चय कर लिया था—

बाढ़ी श्रद्धा हिए बालपन ते अति भारी।
यहि तन नाचौं जक्त फिरौं नहिं अबकी पारी॥
बिघन बिपति जो परै सहौं सो सुठि हरषाई।
याही दिढ़ संकल्प जाहितें फिरि नहिं आई॥

पुत्रकी आध्यात्मिक प्रवृत्तिको देखकर पिता गुरुदत्तसिंहने इन्हें अपने कुलगुरु सिद्ध शैवयोगी महात्मा लक्ष्मणवनसे दीक्षा दिला दी। उस समय ये बिल्कुल अबोध थे—

गुरु करने को मोहिं न ज्ञाना। देखि महातम पितु अनुमाना।
तिनके सरन दिए करवाई। यतनी धर्म बुद्धि तब आई॥
वृद्ध प्रतिष्ठित सिद्ध पुनि, निधि जोग अरु ग्यान।
संभु-उपासक सुठि सबल, मोहिं कह्यो सिव ध्यान॥

उसी अवस्थामें इन्होंने गुरुके निर्देशानुसार शिवपूजा, रामचरितमानसका पाठ और गीताके अनुसार योगाभ्यास करना आरम्भ कर दिया। पिताको आशङ्का हुई कि कहीं ये घर-बार छोड़कर विरक्त न हो जायँ। अतः लौकिक जीवनमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये उन्होंने इनका विवाह कर दिया। इसके बावजूद इनकी अध्यात्म-साधनाका प्रवाह पूर्ववत् गतिशील रहा।

घरकी आर्थिक स्थिति अच्छी न होनेसे इन्होंने भिनगा राज्य (बहराइच) की सेनामें नौकरी कर ली और लगभग सात वर्षतक वहाँ रहे। इस सैनिक-जीवनकी छाप इनके व्यक्तित्वपर अन्ततक बनी रही। गृहत्यागके पश्चात् अखण्ड अवधवास करते हुए भी ये अपनेको इष्टदेवका सिपाही ही मानते थे—

हम तो हैं रघुबीर सिपाही।
निसि दिन राम-नाम रटिबे को और हुकुम हमरे सिर नाहीं॥
काया मुलुक जगीर मिली है सुबस बसावन सो मोहिं चाही॥
बिरति चर्म असि ग्यान अनूपम सुमति सनाह न पटतर जाही॥
'दास बना' प्रभु बिरद भरोसे बसत सदा सरयूतट माहीं॥

जिस समय ये भिनगामें नौकरी कर रहे थे, इनके चचेरे भाई मोतीसिंहके उद्योगसे घरकी स्थिति सुधर गयी। उन्होंने बलरामपुर राज्यमें बहुत-से गाँव लेकर खेतीकी उत्तम व्यवस्था कर ली। उनके अनुरोधसे 'बनासिंह' नौकरी छोड़कर घर चले आये। विरक्तिके पूर्व अपने कुटुम्बकी सम्पन्नावस्थाकी ओर संकेत करते हुए एक स्थानपर ये कहते हैं—

बनादास राज बादसाही छोड़ि साधु भये,
रक्त को बढ़ावनो विरक्त को न काम है।

घर रहते अधिक दिन नहीं बीते थे कि १२ वर्षकी आयुमें इनका एकमात्र पुत्र दिवंगत हो गया। बनादासके जीवनमें इस घटनाने युगान्तर उपस्थित कर दिया। सामान्य लोगोंकी भाँति इसे दैवी-कोप माननेके बदले इन्होंने आराध्यकी असीम कृपाका फल माना। इन्हें संसारकी असारताका बोध हो गया; अतः पुत्रके शवके साथ ही ये अयोध्या चले गये—

यह जग काँचो काँच सम, साँचो है हरिनाम।
बनादास यह समुझि के, कीन्ह्यों अवध पयान॥

जिस दिन ये अयोध्या पहुँचे, कार्तिक पूर्णिमा (सं० १९०८) का महापर्व था। इस समय इनकी आयु ३० वर्षकी थी—

सुदी कार्तिक पूर्णिमा, महापरब जग जानि।
तब आयो प्रभु धाम में, सन संवत सोइ मानि॥
तीस बरस की है बयस, जुगल मास दिन तीन।
एक भरोसो राम को और आस भइ छीन॥

पुत्रशोकने सांसारिक जीवनमें इनकी आसक्ति समाप्त कर दी। मानसिक वृत्तियाँ शिथिल हो गयीं और शरीर क्षीण होने लगा। कृपासिन्धुने सांसारिक बन्धनकी प्रबलतम कड़ीको तोड़कर इनके आध्यात्मिक उत्थानका मार्ग प्रशस्त कर दिया। 'उभय प्रबोधक रामायण' में इस स्थितिकी ओर लक्ष्य करते हुए ये लिखते हैं—

कृपापात्र को रुज मिलै, निर्धनता अपमान।
कुल कुटुम्ब को नास मै, अति करुना भगवान॥

अति करुना भगवान, बंसको छेदन कीना।
ममता रही न कहूँ, सिथिल मन तन सुठि खीना ॥
बनादास पीछे दिये, दिढ़ता, आतम ग्यान।
कृपापात्रको रुज मिलै, निर्धनता अपमान ॥

भगवान्‌की कृपा विभिन्न रूपोंमें सक्रिय होती है—कहीं उसका रूप परम लुभावना होता है और कहीं अत्यन्त भयानक। भक्तोंने भगवान्‌की कृपाको भयानक रूपमें, प्रतिकूलतामें, दुःख, अपमान, तिरस्कार आदिमें भी विशेषरूपसे देखा है। श्रीवनादासजी महाराजने भी भक्त होनेके नाते भगवत्कृपाके इसी रूपका विवेचन किया है—

(क) हरि-बिमुखन को मिलत है, तन सुख औ धन-धाम।
मान-प्रतिष्ठा, अमित बल, माया केर गुलाम ॥
माया केर गुलाम राम को भूलि न जाने।
खान-पान-सनमान माहि निसि-दिन लपटाने ॥
बनादास दिन मृषा गे, अह-निसि भोगत काम।
हरि-बिमुखन को मिलत है तन सुख औ धन धाम ॥

(ख) ईश्वर छोरैं जाहि को, तासु पुत्र धन लेयँ।
अरु डारैं अपमान करि, रोग-वृद्धि कै देयँ ॥
रोग वृद्धि कै देयँ रहै नहिं कोई आसा।
लोग निरादर करैं, हृदय भई होम प्रकासा ॥
यहि विधि लखै सरन निज रहै कमल पद सेय।
ईश्वर छोरैं जाहि को, तासु पुत्र धन लेयँ ॥

अयोध्यामें ये पहले कुछ दिनोंतक स्वर्गद्वारपर रहे। वर्षा ऋतुमें वह स्थान पानीसे भर गया, तब इन्हें कहीं अन्यत्र कुटी बनानेकी चिन्ता हुई। सर्वथा निराश्रय होनेसे उस स्थितिमें इन्होंने सहायताके लिये प्रभुका स्मरण किया—

राम मोहि आसन भूमि बताओ, दूजो कौन जाहि गोहरावौं ॥
कोउ कहै मेरो मंदिर छोड़ो, कोउ चहै टहल करावौं।
कोउ कहै कछु देहु रहौ तब, का दै कै समुझावौं ॥
कोउ खातिर करिकै लै आवत तहँ मेरे मनहि न भावौं।
जब गृह रह्यौं गूँथ नहिं बाँध्यौं अब तव दास कहावौं ॥
कासे कहौं कुटी मेरो छावौ दरबि न दै बनवावौं।

अन्तमें वह स्थान छोड़कर इन्होंने रामघाटपर रहनेका निश्चय किया। वहाँ एक अशोक वृक्षके नीचे धूनी लगाकर वे निश्चिन्तभावसे भजन करने लगे—

आसन है संतोष तख्त पर रामघाट के नाके हैं।
आपसे आवै ताको पावैं करत कभी नहिं फाके हैं ॥
अब तौ बादसाह लघु लागैं युगल माधुरी झाँके हैं।
बनादास सियराम भरोसे अवधपुरी के बाँके हैं ॥

इस प्रकार आकाशवृत्तिसे कुछ समयतक अयोध्यावास करनेके अनन्तर इनकी इच्छा देशाटन करनेकी हुई। अपनी तीर्थयात्राकी रूप-रेखा इन्होंने स्वतन्त्ररूपसे निर्धारित की, जो इस प्रकार थी—

कासी से उठावै राम-नाम लव लावै
प्रागराज में अन्हावै चित्रकूट महँ आवई।
नीमसार धावै हिय अति हरसावै,
छेत्र सूकर नहावै मनोरामापर जावई ॥
मिथिला को पाय नहिं आनँद समाय,
बक्सर बारानसी पुर कोसल चलावई।
बदै 'बनादास' परिक्रमा को सरूप यह,
रीझैं सिया-राम मुख माँगै सोई पावई ॥

पर्यटन समाप्त होनेपर अयोध्या आकर पुनः ये अपने रामघाटवाले पुराने आसनपर रहने लगे। परमहंस सियावल्लभ-शरणसे, जिन्हें इन्होंने सद्गुरु माना है, इनकी भेंट इसी स्थानपर हुई। उनसे इन्होंने भक्ति, ज्ञान और योगमार्गका सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया। उन्हींकी प्रेरणासे ये 'अजगरवृत्ति' धारणकर कठोर साधनामें प्रवृत्त हुए। इनकी प्रतिज्ञा थी—

देहौं देखाय महातम नाम कौ,
तौ जन राम कौ हौं सुचि साँचो।
आस औ बासना के बस ह्वै,
जग में नट माफिक नाच न नाच्यौ ॥
दास बना कलिकाल कराल में,
ना तौ अहै सब साधुता काँचो।
है दसरथ्थके लालहि को बल,
बिष्नु, बिरंचि महेस न जाँच्यौ ॥

इस नाम-साधनामें इनके आदर्श भरत थे। बनादास-जीका विश्वास था कि जिस प्रकार राम-वनवासके समय नन्दिग्राममें तपोमय जीवन व्यतीत करके भरतने अपने आराध्य 'राम'का साक्षात्कार-लाभ किया था, उसी भावको धारणकर तपश्चर्या करनेसे आज भी रामका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त किया जा सकता है—

चौदह वर्षको राम गये बन
भूप तजे तन जान जहाना।
औध-निवासी सहे सब संकट
कै तप औ व्रत संजम नाना॥
लक्ष्मण औ सिय संग गए,
भए भक्त घरै महँ भरत सुजाना।
'दास बना' सनबंध जौ राम से,
तौ किन लीजिए पंथ पुराना॥

इस चतुर्दशवर्षीय साधनका स्वरूप स्पष्ट करते हुए वे एक स्थानपर लिखते हैं—

चौदह बरस एक लक्ष,
नहिं पास कोउ अनुरक्त।
नहिं आँखि दिन में लागि,
यहि भाँति आलस भागि॥
मकरी कैसा तार, आठ पहर चौंसठि घरी।
लगा रहै निशि वार, बनादास सो भजन है॥

नाम-स्मरण करते-करते परम विरहासक्ति जाग्रत् हो गयी। इसीको इन्होंने 'प्रियतम'की प्राप्तिका मुख्य साधन माना है—

नाम अखंडित धार रहु, सब्द न बाहेर जाय।
बनादास कछु काल में, देइहि विरह जगाय॥
बिरह बान लाग्यो नहीं, भयो न पिय को संग।
बनादास कैसे चढ़ै, निज सरूप को रंग॥

मिलनके पहलेकी इस 'पूर्व-तद्रूपावस्था'का निरूपण उनकी निम्नाङ्कित पंक्तियोंमें बड़े ही मार्मिक रूपमें मिलता है—

जिगरसे जख्म भारी है। दसा विरही की न्यारी है॥
खरे नैना उदासे हैं। लेत गहरी उसासें हैं॥
अधर सूखे बदन जरदी। रँगे अंग रंग ज्यों हरदी॥
न आवै नींद दिन राती। स्वास ही स्वास है आती॥
दिनों दिन हाय होती है। 'बना' मरना निसोती है॥
भले अंदर जलाया है। बाह्य सें रंग छाया है॥
नहीं मन-बुद्धिमें आवै। बचन कैसे बखानैगा॥
करैं अनुमान बहुतेरे। गया सो स्वाद जानैगा॥

इस साधनाके समाप्त होनेपर इन्हें आराध्यने दर्शन देकर कृतार्थ किया। 'आत्मबोध'में इस घटनाका स्पष्ट विवरण देते हुए ये कहते हैं—

करुनामय रघुबंसमनि, सहि न सके यह पीर।
हृदय-कमल विगसित भयो, प्रगटे सिय-रघुबीर॥
अरुन चरन पंकज बरन, कल कोमल नवनीत।
सूरतिमें आयो जबै, नास भई भव-भीत॥

निम्नाङ्कित पंक्तियाँ भी इसी ओर संकेत करती जान पड़ती हैं—

जुग-जुग बिरद बिराजत नूतन, श्रुति पुरान मुनि गावैं।
अधम-उधारन पतितन-तारन, असरन-सरन बतावैं॥
सो भरि नैनन आजु बिलोकै, पाये निज मन माना।
'बनादास' प्रभु कृत किमि गोवै, ताते प्रगट बखाना॥

महल तिमंजिला अति सुखदाई, मुक्ति तख्त तहँ राजै।
उपमा हेरे मिलै न कतहूँ, कवि-कोविद-मति लाजै॥
राम-कृपा ते करि बहु साधन, सिद्धि अवस्था पाई।
कोटिन मद्धे कोऊ संत जन, जहाँ बिराजैं जाई॥
मुक्ति तख्त पर सांति बिछौना, ज्ञान नींदमें सोवैं।
बनादास विग्यान उसासैं, दुतिया कतहुँ न जोवैं॥

हम तौ आतम-राम हैं, सुद्ध सच्चिदानंद।
सेये सीताराम कै, छूटि गयो भव फंद॥
सेवत सेवत सेव्यके, सेवकता मिटि जाय।
बनादास तब रीझि कै, स्वामी उर लपटाय॥

इसके पश्चात् ये रामघाटसे वर्तमान तुलसी-उद्यानके पश्चिमी सीमासे संलग्न एक मुरावकी बाड़ीमें आकर रहने लगे। वहाँ ये कभी-कभी मौजमें आकर गाया करते थे—

मूलीके खेतमें तख्त पड़ा है, ऊपर कुरिया छाई है।
बनादास तापै सुख सोवैं, जानैं लोग मुराई है॥

वनादासको यह स्थान पसंद आ गया, अतः वहीं एक किनारे इन्होंने अपनी एक छोटी-सी फूसकी कुटी बना ली और भजन करते हुए काल-यापन करने लगे। मुरावने इनके सद्भाव तथा सिद्धियोंसे प्रभावित होकर उस भूमिको इन्हें ही सौंप दिया। वनादासने कुटीको आश्रमका रूप देकर उसीका नाम 'भवहरण-कुञ्ज' रखा। इसके बाद क्षेत्रसंन्यास लेकर अपना शेष जीवन यहीं बिताया। इस स्थानके माहात्म्यके सम्बन्धमें इनकी धारणा है—

कुंज भव हरन अवध मधि, उत्तम अवसि मुकाम।
को महिमा ताकी कहै, राम-जानकी-धाम॥
राम-जानकी-धाम, काम-धुक मोहिं कल्पतरु।
बनादास मम हेतु, और सारो जग थल मरु॥

पाये सब मन कामना, एक भरोसे नाम।
कुंज भव हरन अवध मधि, उत्तम अवसि मुकाम॥

इनके हाथके लगाये अशोक, बेल और सिंहोरके वृक्ष, रामकूप, राम-जानकी-मन्दिर तथा कुटी अबतक इस आश्रममें वर्तमान हैं।

अपने जीवनकालमें जीवन्मुक्त तथा अयोध्याके परम सिद्ध महापुरुषके रूपमें इनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी थी। जन-सामान्य तथा राजे-महाराजाओंकी तो बात ही क्या, बड़े-बड़े संत-महात्मा इनकी चरण-रज प्राप्त कर गौरवका अनुभव करते थे—

काल को तरतब अति बल भारी।
सातपुरी को माथ अवधपुर तहँ प्रभु अधिक प्रभाव प्रसारी।
जोगी-जती-साधु जन पूजे राजन को सिर पदपर डारी॥
तीरथ धाम समाज सुजन को तहँ सब ऊपर कीन खरारी।
'दास बना' निज कृत नहिं मानत सब महिमा रघुनाथ तुम्हारी॥

कोई-कोई तो इन्हें साकार भगवत्स्वरूप ही मानने लगे थे। लोकप्रचलित निम्नाङ्कित श्लोक इसीका परिचायक है—

बकारो वासुदेवश्च नश्च नारायणो मतः।
दामोदरो इकारश्च सकाराय नमोऽस्तु ते॥

इस अवस्थाकी किंचित् झलक इनकी नीचे लिखी पंक्तियोंमें भी प्राप्त की जा सकती है—

हरि घटमें परगट भया, बनादास गइ व्याधि।
जो बोलौं सो भजन अँग ताकौं तहाँ समाधि॥
जहाँ कालकी गति नहीं हम तहाँ बिराजैं।
सुखको सिंधु अथाह है जे गये ते गाजैं॥
हमकौं राम तहाँ पहुँचाइनि, जहाँ ते सब अवतारा है।
हमसे कहें अनेकन बेरियाँ, तू ही तारन-तारा है॥

वैष्णव-भक्त होनेसे बनादास सिद्धियोंके प्रयोग तथा प्रदर्शनके स्वभावतः विरोधी थे, किंतु इनके अलौकिक चमत्कारोंकी अयोध्या तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशमें अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। उनमेंसे अत्यन्त प्रामाणिक तथा प्रसिद्ध दो घटनाओंका विवरण नीचे दिया जाता है—

(१) अयोध्यानरेश महाराज प्रतापनारायणसिंह 'ददुआ साहेब' महाराज मानसिंहके दौहित्र थे। उनके राज्याधिकारके विरुद्ध वाद उपस्थित हो गया था। उसमें इलाहाबाद हाईकोर्टसे असफल होनेके बाद प्रतापनारायणसिंह महात्मा बनादासकी शरणमें गये। 'अयोध्याका इतिहास'के लेखक लाला सीताराम बी० ए० ने 'अवधकी झाँकी'में इस घटनाका उल्लेख करते हुए बताया है कि 'उस स्थितिमें महात्मा बनादासने ही इनका उद्धार किया। इन्हींके आशीर्वादसे उन्हें लंदनकी प्रिवी कौंसिलसे पुनः राज्याधिकारकी प्राप्ति हो गयी।' (अवधकी झाँकी, पृ० ४)

(२) १९वीं शतीके विख्यात रामभक्त रीवाँनरेश रघुराजसिंह एक बार अयोध्या आये। अनेक मन्दिरों और महात्माओंका दर्शन करते हुए जब वे 'भवहरण-कुञ्ज'के सामने पहुँचे तो हाथीसे उतरकर आश्रमके भीतर गये। उस समय बनादासजी अशोक वृक्षके नीचे जमीनपर लेटे हुए थे। रघुराजसिंहको सामने आते देखकर उन्होंने करवट बदलकर उनकी ओर पीठ कर दी। इस व्यवहारसे खिन्न होकर रघुराजसिंह तत्काल ही बिना प्रणाम किये हुए लौट पड़े। रातमें उन्हें स्वप्नमें ऐसा आभास हुआ, जैसे किसी महात्माका निरादर करनेके कारण वे घोर क्लेश पा रहे हों। इससे उन्हें रातभर नींद नहीं आयी। अतः ब्राह्म-मुहूर्तमें ही वे अनुचरोंके साथ भवहरण-कुञ्ज आये और बनादासजीसे अज्ञानमें अपनेद्वारा किये गये अपराधके लिये क्षमा माँगने लगे। बनादासजी बोले—'जिसे मानकी भूख नहीं, अपमानकी परवाह नहीं, उसके निरादरका अर्थ ही क्या! फिर भी यदि तुम्हें अपने कृत्यपर पश्चात्ताप हुआ है तो उसे ही हमारा क्षमादान समझो।' इसके बाद रीवाँनरेशने बनादासजीकी सेवामें १० हजार रुपयेकी एक थैली भेंट की। बनादासजीने क्षत्रिय होनेके नाते अपनेको दान लेनेका अनधिकारी कहकर उस थैलीको ठुकराते हुए यह दोहा कहा—

जाँचब जाब जमाति जर, जोरू जाति जमीन।
जतन आठ ये जहर सम, बनादास तजि दीन॥

पीछे महाराज रघुराजसिंहके बहुत अनुनय-विनय करनेपर उन्होंने उस रुपयेसे भवहरणकुञ्जमें एक राम-जानकी-मन्दिर बनवानेकी अनुमति इस शर्तपर दी कि 'उस मन्दिरके प्रबन्धका उत्तरदायित्व रीवाँराज्यपर ही होगा। उनका उससे कोई सरोकार नहीं रहेगा।' भवहरणकुञ्जका वर्तमान मन्दिर उसी धनसे निर्मित हुआ था।

इसी आश्रममें ७१ वर्षतककी आयु भोगकर चैत्र शु० ७ सं० १९४९ वि०को बनादासजीने अपनी ऐहिक लीला संवरण की और इस प्रकार उनकी अन्तिम साध पूरी हुई—

है मेरो याही मतो, जौ पुरवैं रघुबीर।
जियौं राम रटि अवध में, मरौं तो सरयू तीर ॥

महात्मा बनादास पढ़े-लिखे नहीं थे। बाल्यावस्थामें इन्हें अक्षराभ्यास मात्र कराया गया था। इनको मात्राओंतकका पूरा ज्ञान नहीं था—

विद्या विधि नाहीं लिखी, भूलि भाल हूँ माँहि।
पढ़े ककहरा बालपन, मात्रा सावित नाँहि ॥
काव्य ग्रंथ नहिं कर छुयौं, नहिं विद्या अधिकार।
मति न ऊँचि गति अवर नहिं, डर प्रेरक सरकार॥

अपनी सारी काव्यशक्तिको वे 'रामनाम'का प्रसाद मानते थे—

ऐस्यो पै नाम प्रभाव न जानिहैं ताके हिये को मसाल जरावैं।
दीरघ-हस्वको भेद न जानत अक्षर पै भरि मात्रा लगावैं ॥
पंख सो हीन उड़ात अकास में दास बना सो दसा लखियावैं।
नाम-प्रताप चहै सो करैं नहिं ताते हिए कछु ताजुब आवै ॥

इस दैवी प्रेरणासे इन्होंने ६४ काव्य-ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमेंसे तीनको छोड़कर शेष सभी प्राप्त हो गये हैं। 'उभय प्रबोधक रामायण'-नामक ग्रन्थ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊसे १८९२ ई० में प्रकाशित हुआ था, किंतु अब वह अप्राप्य है। 'विस्मरण सम्हार' १९५८ में छपा था। वह उपलब्ध है; अन्य सभी रचनाएँ अभी केवल हस्तलेखोंके रूपमें हैं।

गोस्वामी तुलसीदासके बाद रचना-शैलियोंकी विविधता, प्रबन्धपटुता और काव्य-सौष्ठवकी दृष्टिसे बनादास रामभक्ति-शाखाके सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरते हैं। इनकी कृतियोंकी विशेषता है, भक्तिकी निर्गुण तथा सगुण दोनों धाराओंका अपूर्व समन्वय एवं सामञ्जस्य-स्थापन। हिंदी-साहित्यके भक्तिकालकी उक्त दोनों प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधित्व बनादास-साहित्यकी एक ऐसी विलक्षणता है, जो अन्य किसी भक्त कविकी रचनामें प्राप्त नहीं होती। वे स्वयं कहते हैं—

अगुन-सगुन दोउ रूप को, बोध किये दुहुँ वर्न।
अब कछु संसय ना रही, बिनु प्रयास भव तर्न ॥

निर्गुण तथा सगुण दोनों धाराओंके सम्यक् ज्ञाता एवं निरूपकके रूपमें उनकी रचनाए अनन्तकालतक साहित्यिकों तथा तत्त्वज्ञानस्पृही संतोंको आकृष्ट करती रहेंगी।

महात्मा बनादास मूलतः भक्त थे। लोक-जीवनसे विरक्त होकर ही उन्होंने रामभक्तिपथका अनुसरण किया था। इनका सारा साहित्य अध्यात्म-साधनाके विविध तत्त्वोंके निरूपण एवं विवेचनसे ओत-प्रोत है। विषयी प्रवृत्तिके लोगोंको उन्होंने उसका सर्वथा अनधिकारी बताया है—

हित मुमुच्छु के अति सुखद, मुक्तन हू आनंद।
बिषयिन को अधिकार नहिं, बूझत नहिं मतिमंद ॥

किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वे लोक-जीवनसे सर्वथा उदासीन थे। प्रत्युत उनके विशाल हृदयमें आर्तजनोंके प्रति अगाध संवेदना थी। परस्पर-विरोधी मनोविकारों तथा दुष्प्रवृत्तियोंसे जन-मानसको निरन्तर संत्रस्त देखकर उनका हृदय तिलमिला उठता था। कालचक्रमें पिसती हुई जनताका इन्होंने बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है—

दाता मंगता रैयत राजा। राति दिवस औ काज अकाजा ॥
रूप कुरूप ऊँच अरु नीचा। कंचन काँच सुखाना सींचा ॥
सीत-उस्न पुनि छुधा-पिपासा। बंस बहुत काहू को नासा।
लोभ-मोह अरु काम औ क्रोधा। दूबर-मोट अबल कोउ जोधा॥
यहि बिधि चक्की कोटिन चलै। जुग पट भीतर सब जग दलै॥

दया न लागी दुष्ट के, कुवाँ मिलाई भंग।
मर्म न कोउ कह काहु सन, सब को मन बदरंग ॥

युगप्रभावकी इस अनिवार्य आपत्तिसे त्राणका एक-मात्र मार्ग उनकी दृष्टिमें हरिशरणागति है। 'कील'का आश्रय ग्रहण करनेवाले दाने ही इस व्यापक संहारसे त्राण पा सकते हैं, यह उनका निश्चित मत है—

कलि कुचाल चक्की चलै, दरे जात सब लोग।
बनादास हरि की कृपा, बचै कील संयोग ॥

अन्य मनोविकारोंकी अपेक्षा समसामयिक लोक-जीवनको भ्रष्ट करनेमें लोभके प्रतिनिधि 'पैसा'को ये सर्वप्रमुख मानते थे। हमारा राष्ट्रीय चरित्र लोभवृत्तिकी प्रेरणासे दिनोंदिन कितना गिरता जा रहा है, यह सर्वविदित है। आज शायद ही कोई ऐसा मनुष्य मिले, जो किसी दामपर बिकनेको तैयार न हो। सबका अपना मूल्य है; किसीका कम, किसीका अधिक। गरीब निरन्तर और गरीब होते जा रहे हैं तथा धनी उत्तरोत्तर अधिक धनी। किंतु ध्यानसे इन दोनों वर्गोंके जीवनका निरीक्षण करनेपर ज्ञात होता है कि कोई भी सुखी नहीं है। सभी एक अज्ञात ज्वालामें भस्म हो रहे हैं।

परेशान पैसा लिये, पैसा हित हैरान।
बनादास पैसा किये, ब्याकुल सकल जहान ॥

अध्यात्मसाधनामें भी यही सबसे बड़ा अन्तराय है—

पैसा मन मैसा करै, लादत नहीं अघाय।
सुमिरन-ध्यान-समाधि में, बृत्ति नाहिं ठहराय ॥

दुनियादार राजनीतिज्ञों और व्यापारियोंको कौन कहे, पैसेकी इस मायाने धर्मके तथाकथित ठेकेदारोंतकको अपने चंगुलमें बाँध रखा है। आये दिन हम देखते हैं कि बेचारे गरीब किसान-मजदूर भूखों मर रहे हैं; किंतु उन्हींके द्वारा पूजारूपमें चढ़ाये गये धनसे मठाधीश गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। धर्मके नामपर यह प्रवञ्चनापूर्ण व्यवहार समाजमें आस्तिकताकी जड़ोंको खोखला कर रहा है—

दुनिया अन्न बिना मरि जावै धनी भए मठधारी।
खाहिं पेटभर करैं न कष्टा सोवैं टाँग पसारी॥
जे गरीब ते अन्न के दुखिया राम-नाम अवराधैं।
कोइ-कोइ बचे मोर नखत से जासु भार हरि काँधैं॥

इस प्रकारके गुप्त पापियोंको वे प्रत्यक्ष पापियोंकी अपेक्षा समाजके लिये अधिक घातक समझते थे—

डौल बनाये हंस को कौल से चूका जाय।
बनादास बगुलै भला, परगट मछरी खाय॥

बनादासजीकी धारणा थी कि समाजके सभी वर्गोंमें व्याप्त यह चारित्रिक पतन केवल अन्तःप्रवृत्तियोंके परिष्कारसे ही रोका जा सकता है और उसका एकमात्र उपाय है—'रामनाम-जप'। यह सभी वर्गों तथा स्थितियोंके लिये सर्वथा ग्राह्य, सुलभ एवं सरलतम साधन है—

काम क्रोध मद लोभ अरु, मोह मिटावन हेत।
नाम-सरिस औषध नहीं, भजु हरदम करि चेत॥
राग-द्वेष ते रहित निति, निर्भै औ निःसंग।
निर आसा संदेह बिन, सकल बासना-भंग॥
जब आवै ऐसी भगति, तबै सकल मल जाय।
लहै आतमा रूप निज, आवागवन नसाय॥

यही महात्मा बनादासका स्वानुभूत, शास्त्रसम्मत तथा लोकमङ्गलविधायक साधनपथ है। उनकी घोषणा है—

लिखी-सिखी नहीं लिखी, निज अनुभव हम देखि।
श्रुति पुरान संमत सदा, जानिहैं संत बिसेषि॥
कहता हौं कहि जात हौं, सुनि लीजो सब कोय।
राम भजे भल होइगो, ना तरु भला न होय॥

आज देशको सच्चा आस्तिक चाहिये

(लेखक—श्रीजयकान्तजी झा)

आज हमें इस बातकी सबसे बड़ी आवश्यकता है कि हम आस्तिक बनकर प्रभुमें श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न करें और इस बातका प्रयत्न करें कि हमारा यह विश्वास नित्य-निरन्तर बढ़ता रहे; क्योंकि यही विश्वास हमें कल्याण-मार्गपर अग्रसर करेगा। जबतक हमारा मन विषय-वासनाओंसे ओतप्रोत है, तबतक हम केवल कहनेभरको आस्तिक हैं, वास्तवमें तो हम विषयोंके दास बने हुए नाना प्रकारकी कामनाओंसे व्याकुल हैं; तनिक-सी बातसे हममें क्रोध उत्पन्न हो उठता है। संतोष एवं शान्तिके दर्शनतक नहीं होते और झूठी अकड़में धन, बल एवं प्रभुत्वका अभिमान करते हुए मोह-निशामें उचित-अनुचितका ध्यान किये बिना हम ईर्ष्या-द्वेषकी आगमें जलते रहते हैं एवं दूसरोंपर दोषारोपण करनेमें तनिक भी नहीं चूकते। ऐसी आस्तिकता हमें केवल पतनकी ओर अग्रसर करती है और इससे हमारा कभी भी कल्याण नहीं हो सकता। हमें सच्चा आस्तिक बनना पड़ेगा और तभी हम सदाके लिये अशुभसे बच सकेंगे।

हम सदा अपना कल्याण चाहते हैं और यह तभी सम्भव है, जब हम सदा शुभ कर्म करते हुए प्राणीमात्रका कल्याण हृदयसे चाहें। हमारी प्रत्येक क्रिया शुभ हो और हमारा मन सदा-सर्वदा शुभसे ही ओत-प्रोत हो। हमें इस बातसे सावधान रहना होगा कि हमारे जितने भी शुभ संस्कार हों, वे अधिकाधिक क्रियामें परिणत होते रहें और अपने अशुभ संस्कारोंको हम कभी व्यक्त न होने दें। हमारे छोटे-से-छोटे शुभ या अशुभ संस्कार अगणित शुभ या अशुभ कर्मोंके बीज उत्पन्न कर देते हैं और यदि इन शुभ-अशुभ संस्कारोंको हम क्रियात्मक रूप न दें तो वे धीरे-धीरे क्षीण होने लगते हैं। इसी बातको ध्यानमें रखते हुए हमें अपनी दिनचर्या बनानी चाहिये और अपनी शुभ-अशुभ क्रियाओंका विचार करते हुए सदैव जीवनकी गति-विधिका निरीक्षण करते रहना चाहिये।

सच्चा आस्तिक बननेके लिये हमें सर्वप्रथम प्रभुमें अपना विश्वास दृढ़ करना होगा और यह तभी होगा; जब हममें जो भी थोड़ा-बहुत प्रभुका विश्वास है, उसका हम क्रियात्मक प्रयोग करें। हमें निम्नलिखित बातोंपर पूर्ण विश्वास होना ही चाहिये—

(१) प्रभु सर्वत्र हैं

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्' (ईशावास्य १) के अनुसार क्षुद्र-से-क्षुद्र एवं महान्-से-महान् सभी प्राणियों एवं पदार्थोंमें वे नित्य समभावसे स्थित हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ वे न हों। हमारे सम्पर्कमें आनेवाली समस्त वस्तुओंमें वे स्थित हैं। आकाश, वायु, जल, अग्नि, पेड़-पौधे, मनुष्य, पशु-पक्षी, तितली, भौंरे अथवा जड दीखनेवाले सभी पदार्थोंमें यथा—टेबुल, कुर्सी, खाट, किवाड़, घड़ी, कलम-दावात आदि सभी वस्तुओंमें वे पूर्ण हो रहे हैं—जगत्के अणु-अणुमें वे व्याप्त हैं—सूक्ष्मभूतमें वे समाये हुए हैं, महत्तत्त्वमें, सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंमें वे व्याप्त हैं। और तो और, यह शरीर, जिससे हम अत्यधिक प्रेम करते हैं और जिसे हम क्षणमात्रके लिये भी नहीं भूलते, उसमें भी वे नखसे शिखतक परिपूर्ण हो रहे हैं।

'प्रभु सर्वत्र हैं'—इस विश्वासको दृढ़ करनेके लिये हमें दिनमें दस, बीस, पचीस—जितनी बार और जितनी देरके लिये सम्भव हो, उतनी बार, उतनी देरके लिये हम मनमें यह भावना करें कि प्रभु सर्वत्र हैं। इस भावनाके समय हमें इस बातका ध्यान रखना होगा कि जिस-किसी भी व्यक्तिसे हम जो कुछ भी व्यवहार करें, उसमें ठीक-ठीक उतना ही सम्मान, अपनत्व, आत्मीयता एवं प्रेम भरा हो, जितना स्वयं प्रभुके साथ व्यवहार करनेपर होता। इस भावनाके समय हम जिस वस्तुको देखें, सुनें अथवा स्पर्श करें, उसमें प्रभु-सत्ताकी इतनी जीवन्त धारणा हो कि उसका यथायोग्य व्यवहार करते समय हमें उसी आनन्दकी अनुभूति हो, जितनी प्रभुके सम्पर्कमें आनेपर होती। उदाहरणार्थ—यदि कोई याचक आपके सम्मुख आ गया, उस समय आपको ठीक-ठीक यह अनुभव होना चाहिये कि जब हमारे प्रभु सर्वत्र हैं तो इस याचक (भिखारी) में भी वे अवश्यमेव हैं। अतः भिखारी-वेषमें प्रभु ही पधारे हैं। उस भिखारीके प्रति हमारे हृदयमें ठीक वैसे ही प्रेम, आत्मीयता, अपनत्व आदि प्रकट हों, जैसे स्वयं प्रभुको देखकर होते। उस समय भले ही लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे छोटे पदका स्वाँग होनेके कारण हम आसनसे न उठें, किंतु हमारा अन्तस्तल भिखारी-वेषधारी प्रभुके चरणोंमें समर्पित हो जाना चाहिये। उसे भोजन कराते समय उस भोजनके अणु-अणुमें हमें प्रभुकी प्रभाका भान होना चाहिये और भिखारीके दर्शनसे हमारे रोम-रोम पुलकायमान हो जायँ। ऐसी भावना प्रतिदिन बार-बार करनेपर हमारी आस्था प्रभुकी सर्वव्यापकतामें दृढ़ हो जायगी और साथ ही उनमें अटल श्रद्धा उत्पन्न होगी।

(२) प्रभु सर्वज्ञ हैं

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्डक० १।१।९) अखिल ब्रह्माण्डके गुप्त-से-गुप्त एवं सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कोनेतकमें अनादि-कालसे अबतक क्या-क्या हो चुका है, वर्तमानमें क्या हो रहा है एवं अनन्त कालतक क्या होता रहेगा, यह सब कुछ वे निरन्तर जानते रहते हैं और उन्हें इन सबका अनुभव होता रहता है। उत्तम-से-उत्तम अथवा निम्न-से-निम्न कोई भी ऐसा कार्य अथवा स्थान नहीं, जो उनकी दृष्टिसे परे हो।

प्रभुकी सर्वज्ञताके विश्वासको भी हमें क्रियात्मक रूप देना होगा। जब हम अशुभ प्रवृत्तियोंसे घिर जाते हैं और अपने मनपर नियन्त्रण न होनेके कारण हम निर्लज्जतापूर्वक अशुभ कर्म करने लगते हैं, उस समय इस विश्वासकी परम आवश्यकता है। ऐसे समय हमें प्रभुकी प्यारभरी वाणी तनिक भी सुनायी नहीं देती और यथासम्भव छिपकर हम दुष्कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। हमारे दुष्कर्मोंका कहीं भंडाफोड़ न हो जाय, ऐसी शङ्का होनेपर कई बार दुष्कर्मोंसे हमारा बचाव भी हो जाता है। अतः यदि प्रभुकी सर्वज्ञतापर विश्वास करके हम अपनी अशुभ प्रवृत्तियोंका दमन करने लगें तो प्रभुमें श्रद्धा बढ़ने लगे और साथ-ही-साथ हमारे दुष्कर्मोंका अन्त भी हो जाय। इसके लिये हमें यह अभ्यास करना होगा कि जब कभी भी हम कोई कर्म करें, उस समय दृढ़तासे यह स्मरण करें—'प्रभु हमें जान रहे हैं, देख रहे हैं।' ऐसा स्मरण आते ही हमें उतनी ही लज्जा होगी, जितनी हमारे दुष्कर्म किसी अन्य व्यक्तिद्वारा जान लिये जानेपर होती है। बार-बार ऐसा करनेपर (प्रारम्भमें चाहे वह हठपूर्वक ही हो) हमारी श्रद्धा प्रभुकी सर्वज्ञतामें दृढ़ हो जायगी और हमारी अशुभ प्रवृत्तियोंका भी सदाके लिये अन्त हो जायगा।

(३) प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं

असम्भव-से-असम्भव कार्य भी क्षणमात्रमें प्रभु-कृपासे सम्भव हो सकता है। उनकी शक्ति असीम है। 'नात्येति कश्चन'—किसीकी सामर्थ्य उनके शासनके विरुद्ध जानेकी नहीं है। 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।' (श्वेताश्वतर० ६।७)।

वे ईश्वरोंके भी परम महान् ईश्वर हैं, स्थूल एवं सूक्ष्म जगत्के जितने शासक हैं, उन सबके वे शासक हैं। उनमें अद्भुत सामर्थ्य है। सर्वथा विरोधी गुण उनमें एक साथ, एक समयमें वर्तमान रहते हैं।

'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।'

(ईशावास्योपनिषद् ५)

'एक साथ वे एक समयमें चलते भी हैं और नहीं भी चलते, वे दूर भी हैं और समीपमें भी हैं।'

'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।

(कठोपनिषद् १।२।२१)

'वे बैठे हुए ही दूर चले जाते हैं, सोते हुए ही सर्वत्र पहुँच जाते हैं।' 'अनेजदेकं मनसो जवीयः—(ईश० ४) वे चलन-रहित होते हुए मनसे भी अधिक वेगवाले हैं।' 'तद्धावतोऽन्यान-त्येति तिष्ठत्—वे बैठे रहकर भी दौड़नेवालोंसे आगे निकल जाते हैं।' ऐसे ही वे असंख्य विचित्र शक्तियोंसे पूर्ण हैं।

प्रभुके सर्वसमर्थता-सम्बन्धी विश्वासको हमें क्रियात्मक रूप देना होगा। प्रत्येक कार्य करनेसे पहले हमें प्रभुसे प्रार्थना करके शक्तिकी याचना करनी होगी; क्योंकि शक्तिके केन्द्र तो प्रभु ही हैं—उनकी शक्तिसे ही हमारे सभी कार्य सम्पादित होते हैं। पर हमारा अहं इस सत्यको हमारे सम्मुख व्यक्त नहीं होने देता और फलस्वरूप प्रभुकी शक्तिको पूर्णरूपेण संचारित होनेका मार्ग नहीं मिलता। यदि हम प्रत्येक कार्य करनेसे पहले प्रभुसे शक्तिकी याचना कर लें तो निश्चय ही हमारे कठिन-से-कठिन कार्य भी सरलतापूर्वक सम्पन्न हो जायँ। यदि इस बातका पूर्ण अभ्यास हो जाय तो हमें प्रतिक्षण प्रभुकी सर्वसमर्थताका आभास होने लगेगा और हम देखेंगे कि कोई भी शुभ कार्य यदि प्रभुकी प्रार्थना करके आरम्भ किया जाय तो उसमें आश्चर्यजनक प्रगति होती है; साथ ही हम जितनी बार प्रार्थना करेंगे, उतनी बार प्रभुमें हमारी श्रद्धा पुष्ट होती जायगी और अन्तमें हमारे जीवनका यह स्वभाव हो जायगा—'प्रत्येक कार्यके लिये प्रभुकी शक्तिपर निर्भर रहना।' हम एक स्वरसे स्वीकार करेंगे कि प्रभुकी कृपासे क्या नहीं हो सकता और हमारी यह श्रद्धा सदैव जागरूक रहने लगेगी।

(४) प्रभु हमारे सुहृद् हैं

'सुहृदं सर्वभूतानाम्' (गीता ५।२९) के अनुसार प्रभुसे बढ़कर हमारा कल्याण चाहनेवाला दूसरा कोई नहीं। उनकी अहैतुकी कृपा सभी जीवोंपर सदा समानभावसे बरसती रहती है। पतित-से-पतित प्राणी भी एक बार यदि हृदयसे स्वीकार कर ले कि 'भगवान् हमारे सुहृद् हैं तो उसे सच्ची शान्ति प्राप्त हो जाती है। भगवान्की यह प्रतिज्ञा है कि 'दुराचारी-से-दुराचारी व्यक्ति भी ज्यों ही उनके सम्मुख होता है अर्थात् उनकी शरणमें जाता है, उसी क्षण उसके अनन्त कोटि जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। हमें तो केवल विश्वास करनेभरकी देर है, भगवान् तो हमें अपनानेके लिये सदैव, सब प्रकारसे प्रस्तुत हैं।

भगवान्के साथ सौहार्द बढ़ानेके लिये हमें अपने जीवनको उनसे जोड़ देना होगा। इसके लिये हमें कुतर्क छोड़कर प्रभुके स्नेहमय दानको, प्रतिक्षण पद-पदपर हमारी सुख-सुविधाके लिये उनके द्वारा की गयी व्यवस्थाको स्मरण रखते हुए गद्गद होना पड़ेगा। हृदयसे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रभुके अनन्त-असीम उपकारोंकी गणना नहीं हो सकती। ऐसी अहैतुकी कृपा करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। अपनी अधमता एवं प्रभु-कृपाकी याद करके हमारी आँखें भर आयेंगी और हम उनसे प्रार्थना करेंगे कि "हे नाथ! हमारे-जैसे नीचको नरकाग्निमें ढकेलकर भस्म कर दो; हमारे-जैसे पातकीके अपराधोंकी ओर बिना देखे हुए तुमने विवेक देकर हमें आदरका पात्र बनाया। हम तो इतने नीच हैं कि अन्तर्यामी प्रभुसे भी कपट करनेमें न चूकें और तुम हो कि नाथ! तुमने हमें न छोड़ा। प्रभु! हमारा मन तो विषयोंका दास है, किंतु ऐसे वञ्चकपर भी तुम्हारी अनवरत कृपा बनी रही। नाथ! तुम्हारा स्वभाव ही है—'अपनी ओर देखना, दूसरोंकी ओर नहीं।' अनन्त उपकारोंसे हमें ओत-प्रोत कर देनेपर भी तुम्हारे स्नेहमय दानका कभी विराम नहीं हुआ।"

इस प्रकार उपर्युक्त विश्वासको हम केवल सैद्धान्तिक रूपमें ही सीमित न रखें, बल्कि उसे क्रियात्मक जीवनका अंश बना लें। प्रभुकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता और सौहार्दताकी ओर सक्रिय दृष्टि डालते ही हमारी श्रद्धाके बीज प्रस्फुटित हो उठेंगे और हम अपने सम्पर्कमें आनेवाले सभी व्यक्तियोंको भगवद्विश्वासके बीज दान कर सकेंगे। हम आप्तकाम हो जायँगे और हमारे अहंका सर्वथा विनाश होकर निरन्तर भगवद्भावोंका विस्तार होता रहेगा।

हम अपना आत्मबल कैसे बढ़ायें ?

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

संसारमें समस्त सिद्धियोंका मूल आधार है—आपके मनका स्वयंके प्रति विश्वास। हमें आत्म-विश्वासके बलसे ही जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सफलता प्राप्त होती है। बड़े-बड़े नेता, राष्ट्रनिर्माता, योद्धा, सेनापति, राजनीतिज्ञ, लेखक, कलाकार, सुप्रसिद्ध अभिनेता, संगीतज्ञ आदिने अपने-अपने क्षेत्रोंमें अपने विकसित आत्मविश्वासके कारण ही आश्चर्यजनक सफलताएँ प्राप्त की हैं। इसी गुप्तशक्तिके कारण उन्होंने वे चमत्कार कर दिखाये, जिनसे लोग आज भी उन्हें स्मरण करते हैं। प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मविश्वास मौजूद है। प्रश्न है, मनुष्य आत्मविश्वास क्यों खो बैठता है? आत्मविश्वासकी कमीके क्या कारण हैं? आपके आत्मविश्वास क्षीण होनेका प्रधान कारण आपके गुप्त मनमें बैठा हुआ डर है। शायद आप किसी कारणसे असफल हो गये, दुष्टोंने परेशान किया, विरोधियोंने धमकाया, संगी-साथियोंने आपका साथ न दिया। निकट सम्बन्धी छोड़ गये। फलस्वरूप आपका मन बुझे दीपक-सा निस्तेज हो गया। सम्भव है, बचपनमें अज्ञानके कारण आपसे कोई गलती हो गयी। उस भूलके कारण आप दुःखी होकर पश्चात्ताप करने बैठ गये। या आप बहुत दिनोंसे किसी भयंकर रोगसे ग्रसित चले आ रहे हैं। पारिवारिक या आर्थिक चिन्ताओंके कारण आपको रात्रिमें शान्तिकी नींदतक नहीं आ रही है। आपके पीछे कुछ विरोधी या शत्रु पड़ गये हैं, जो हमेशा आपको मारनेकी धमकी देते रहते हैं। प्राण बचानेके लिये आप व्याकुल रहते हैं। आपका मन घबराया रहता है। चलते-फिरते, उठते-बैठते डर रहता है कि कहीं आपका कुछ अनिष्ट न हो जाय! वैरी-विरोधियों, चोरों-डाकुओंके खतरोंसे आप अंदर-ही-अंदर भयभीत रहते हैं। अकेले बाहर निकलने या टहलने जाने, यात्रा करनेसे डरते रहते हैं। कोई नौकरी छोड़ बैठे, अब नयी नौकरी लेते हुए घबराते रहते हैं। इस प्रकार आप सदा मनमें उद्विग्न बने रहते हैं। मन अस्वस्थ रहता है। इन सबका गुप्त कारण आपका भय है। ऊपर लिखे समस्त लक्षण भयके ही विविध रूप हैं। भय दूर होना चाहिये।

आप मनमें यह बैठा लीजिये कि डरके ऊपर लिखे या उन्हींकी तरहके और भी रूप सब व्यर्थ हैं। उनमेंसे अधिकांश आपके मनकी कोरी कल्पनाएँ मात्र हैं। इनमेंसे आप जिन-जिन बातोंसे परेशान हैं, वे यथार्थ जीवनमें कभी आनेवाली नहीं हैं। हमारी बहुत-सी शिकायतों, परेशानियों और समस्याओंका कारण गलत प्रकारकी अनिष्ट कल्पनाएँ मात्र हैं। ये सब शङ्का और भयके प्रकार हैं। हम अपनी असफलताओंपर इसीलिये रोते रहते हैं; क्योंकि हम बुरी तरह भयभीत हो गये हैं। भविष्यकी दुश्चिन्ता, टूटे-फूटे अरमान, असंतोष, निराशा, शिकायतें, क्लेश और परेशानी विषादपूर्ण कल्पनाओंके फल हैं। ये आत्मविश्वासको कम करते हैं।

भविष्यके विषयमें कुकल्पनाएँ करनेवालोंको भयका मानसिक रोग लग गया है। जब वास्तवमें समय गुजरता है, तो ऐसी दूषित कल्पनाएँ प्रायः झूठी सिद्ध होती हैं। यदि वे उद्यमी और परिश्रमी हुए तो जिंदगी नये सिरेसे करवट लेती है। कोई भी लक्ष्य साहस, उत्साह, श्रम और लगनके बिना पूर्ण नहीं होता। जब असफल हुए व्यक्ति इन गुणोंको अपनाते हैं, तब नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उनको अनुभव होता है कि इतने दिनोंतक वे जिन शङ्काओंसे परेशान थे, वे व्यर्थ ही थीं। इतने वर्षोंसे डरकर उन्होंने अपने आत्मबलको ही कमजोर किया है। उनकी असफलताका कारण उनका जल्दीसे टूट जानेवाला धैर्य, साहसकी कमी और उत्साहकी क्षीणता थी। अनेक वर्षोंके गुजर जानेके बावजूद किसीने उनका कुछ नहीं बिगाड़ा है। वे व्यर्थ ही परेशान रहे हैं। दुःख, विकलता और परेशानी उनकी भयकी दुष्प्रवृत्तिके कारण ही थी।

अतः आप अपना साहस बढ़ाइये। वर्तमान समस्याओं-का साहसपूर्ण निदान कीजिये। मामूली विषमताओं, विरोधों और जटिलताओंसे घबराना छोड़ दीजिये। विश्वास कीजिये कि आप अपनेमें हर प्रकारसे पूर्ण हैं। आपमें साहस प्रचुरतासे सोया पड़ा है। धैर्य और हिम्मत ही जीवन है। अपने साहसके आधारपर ही मनुष्य विजयी होता चलता है। हमारी महत्त्वाकाङ्क्षाएँ, हमारे सुनहरे स्वप्न, हमारे प्यारे अरमान, स्वर्णिम आशाएँ, सुखद अभिलाषाएँ साहसके द्वारा ही साकार होती हैं।

मनोविज्ञानके नियमोंके अनुसार किसी भी दुर्गुणको दूर

करनेके लिये उसके विरोधी सद्गुणका विकास करना चाहिये। भयको दूर करनेके लिये उसके विरोधी साहस-उत्साहका विकास करना अत्यन्त आवश्यक है। भयके द्वारा की हुई टूट-फूटको दूर करनेके लिये हिम्मतका विकास करना आवश्यक है। अपनी भयकी आदतका अच्छी तरह अध्ययन कीजिये। उसकी तीन श्रेणियाँ याद रखिये और विचार कीजिये कि आपको किस कोटिका गुप्त भय सता रहा है—क्या आपके भीतरसे अपने आप भय उत्पन्न होता है? क्या डरते-डरते भय आपकी आदतमें शामिल हो गया है? क्या जीर्ण (पुराना) होकर भय आपकी मानसिक व्याधि बन गया है? ये सब क्रमिक रूपमें एक-से-एक उग्र स्थितियाँ हैं। एक ही पौधेकी नन्ही-नन्ही शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं। कौन, किससे डरता है, यह हर एक व्यक्तिमें पृथक् बात है। प्रत्येककी मनःस्थिति भिन्न है। जिसने आत्मबल नहीं बढ़ाया है, वह मामूली रस्सीको भी साँप समझकर डरेगा। पेड़-पत्थरोंकी पूजा करेगा; कल्पित भूत-प्रेतोंसे, बादल-बिजलीसे डरता रहेगा। स्वप्नमें भी कल्पित राक्षसी आकृतियोंसे डरकर उठेगा। जिनसे डरेगा, उनकी पूजा करेगा। पुरातनकालकी ही बात नहीं है; आधुनिक जीवनमें भी लोग विरोध, शत्रु, गरीबी, बेकारी आदिसे भयभीत होकर अपने व्यक्तित्वमें अनेक प्रकारकी क्षीणताओंको स्थान देते रहते हैं। आत्म-विश्वासकी कमीके कारण वे कोई भी नया काम हाथमें लेते हुए डरते हैं।

एक विचारकके ये शब्द स्मरण रखनेयोग्य हैं—"धन्य हैं ऐसे विरले लोग—निर्भय, हिम्मतवाले, वास्तवमें निडर लोगोंने ही जीवनमें बड़े-बड़े कार्य किये हैं, निर्भय हो, सही लक्ष्योंकी पूर्तिके हेतु लगकर अपना जीवन सार्थक किया है। सच्चे अर्थोंमें जीवित रहनेके वे ही अधिकारी हुए हैं। भयका जीवन तो साक्षात् मृत्यु ही है। जिसमें डर नहीं, वही जीवित है। वही बड़े काम करेगा।"

संसारमें सभी तो उत्पन्न हुए हैं। सबके लिये पञ्चतत्त्व मौजूद हैं। सबको अपनी-अपनी योग्यताओंके अनुसार फल पानेकी छूट है। सबके लिये खुला कार्यक्षेत्र है। सबके लिये ज्ञानका प्रकाश और प्राण है। दिन और रात है। फिर भय करनेसे क्या होगा? भय ईश्वरने उत्पन्न नहीं किया है। उसने हम सभीको निर्भय रूपमें पैदा किया है। सबको अपनी गुप्त शक्तियोंका विकास करने और अपनी योग्यताओंके अनुसार वातावरण निर्माण करनेका स्वतन्त्र अधिकार है।

हम जिन शब्दों और वाक्योंको पूरे विश्वासके साथ बारंबार दुहराते हैं, उनसे हमारे गुप्त मनका निर्माण होता है। जिन बातोंको देरतक मनमें रखा जाता है, उनसे अव्यक्त प्रदेशकी मनोभूमि बनती है। प्रत्येक सशक्त उत्तम विचार, जो मनमें जम जाता है, अप्रत्यक्ष रूपमें हमारे दैनिक जीवनको प्रभावित करता रहता है। आत्मविकास करनेके लिये आपको निर्भयताकी भावना दृढ़तापूर्वक मनमें जमानी चाहिये। यह मान लेना चाहिये कि आप महान् शक्तियाँ लेकर जन्मे हैं और आपको प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करना है; अपने कर्मोंके द्वारा समाजमें अपनी जगह बनानी है; सबका विश्वास प्राप्त करना है; इज्जतसे जीवित रहना है; समाजमें यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है।

अपना आत्मबल बढ़ानेके लिये प्रतिदिन प्रातःकाल और रात्रिमें सोनेसे पूर्व गुप्त मनके सुधार तथा नवनिर्माणके लिये नीचे लिखे शब्दोंको पूरी निष्ठासहित बार-बार दुहराना चाहिये। उन्हें देरतक मनमें रखना—उनमें रमण करना और उन्हींकी कल्पनामें तन्मय रहना चाहिये। इन्हें स्वीकृतियाँ (affirmations) कहते हैं। अर्थात् ये वे मूल्यवान् विचार हैं, जिन्हें आप हृदयके गहनतलसे स्वीकार करते हैं; दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार करते हैं कि आप इनके स्वामी हैं। ये विचार आपके प्राणोंमें, आपके रक्तमें समाये हुए हैं। इन्हें बार-बार दुहराने और उनपर ध्यान केन्द्रित करनेसे ये भाव गुप्त मनमें स्थायीरूपसे जाते हैं और नया अव्यक्तप्रदेश बन जाता है। फिर इन्हीं उपयोगी विचारोंके अनुसार जीवनके कार्य चलने लगते हैं। लीजिये, ये भावनाएँ प्रतिदिन पूर्ण विश्वासके साथ दुहराइये, मनमें बसाइये:—

'मैं मानता हूँ कि इस संसारमें प्रतिष्ठित पुरुषोंके समान सब उत्तम वस्तुओंपर मेरा भी अधिकार है। मैं उच्चपद प्राप्त करके ही रहूँगा। मैं स्वीकार करता हूँ कि जो-जो अन्य महान् पुरुषोंने किया है, वह मैं भी कर सकता हूँ।'

'मैंने अपना क्षेत्र चुन लिया है। मैं मानता हूँ कि इस क्षेत्रमें उन्नति करने, ऊँचा उठने, सबसे उच्च पद प्राप्त करनेकी मेरे अंदर शक्ति है।'

'मैं मानता हूँ कि समाजमें सबके समान मेरी भी अच्छी हैसियत है। मैं साधारणकी अपेक्षा ऊँचा उठा हुआ हूँ। प्रतिष्ठित व्यक्तियोंकी तरह मेरी भी प्रतिष्ठा है। अपने क्षेत्रमें सम्मान है।'

'मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मेरा जन्म उच्च लक्ष्यकी पूर्तिके लिये हुआ है। मुझे कोई बड़ा काम करना है। मैं ऐसा महान् कार्य करूँगा जिससे लोग सदैव मुझे याद किया करेंगे।'

'मैं मानता हूँ कि प्रत्येक काम करनेसे ही पूरा होता है। केवल कल्पना करने या सिर्फ सोचते-विचारते रहनेसे कुछ नहीं होता। आलस्य छोड़ मुझे अपने कामपर डट जाना है। उसे उत्साह और लगनसे करना है और तबतक नहीं छोड़ना है, जबतक मैं उसे पूरा न कर लूँ।'

'मैं मानता हूँ कि निष्क्रिय होकर बैठे रहनेसे कोई लाभ नहीं। मुझे क्रियाशीलताका जीवन अपनाना है। अपने कर्तव्य-की पूर्तिमें निरन्तर आगे बढ़ते रहना है। छोटी सफलताओंके बाद उत्तरोत्तर बड़ी सफलताएँ प्राप्त करते रहना है।'

'मैं स्वीकार करता हूँ कि स्वयं अपना सम्मान करनेसे समाजमें प्रतिष्ठा होती है। मैं अपनेको जैसा अच्छा मानता हूँ, वैसा ही उत्तम मुझे समाज मानेगा। अतः मैं न तो कोई ऐसा विचार ही मनमें रखता हूँ, जिससे अप्रतिष्ठा हो, न कोई ऐसा निन्दनीय कार्य ही करता हूँ कि व्यर्थ ही परेशानी उठानी पड़े। मैं मानता हूँ कि परमात्मा स्वयं कुछ नहीं करता; मनुष्यके द्वारा ही सब उत्तम कार्य करवाता है।'

'मैं मानता हूँ कि ईश्वरी शक्ति मुझमें पर्याप्त रूपसे विद्यमान है। भगवान्‌ने मुझमें अक्षय प्राण भरा है। दिव्य-प्रेरणा मुझमें तीव्रतासे कार्य कर रही है। मैं अब सही दिशाओंमें अपनी मौलिक शक्तियोंका विकास कर रहा हूँ।'

'मैं आजसे अपने अंदर विश्वास करता हूँ। अपनी रहस्यमयी शक्तियोंको खोलने जा रहा हूँ। मैं मानता हूँ कि मेरा वर्तमान जीवन मूल्यवान् है; प्रतिक्षण उन्नतिके लिये उपयोगी है। मैं परमात्मापर विश्वास करता हूँ। मेरे सत्संकल्पों-की सिद्धिमें परमेश्वरका सहयोग मुझे निरन्तर मिलता रहता है। मैं कर्त्तव्य-धर्मको मानता हूँ। उसे धारण करनेसे मेरी सर्वाङ्गीण उन्नति हो रही है।'

'मैं वर्तमानपर विश्वास करता हूँ। जो समय व्यतीत हो गया, मैं व्यर्थ ही उसके लिये दुःखी नहीं होता। वह नष्ट हो गया और सदा-सर्वदाके लिये हाथसे निकल गया। अब उसके लिये शोक मनाना मूर्खता है। भविष्यको किसीने नहीं देखा। मैं तो मूल्यवान् आजके दिनका सदुपयोग कर रहा हूँ। मेरे निश्चयमें परमात्माकी प्रेरणा है।'

बीजके अनुसार वृक्षकी उत्पत्ति होती है। जैसे विचार-रूपी बीज आपके गुप्त मनमें जमेंगे, वैसा ही आपके जीवनका निर्माण होगा। जिन विचारोंपर आप दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हैं, जिनमें आपकी आस्था है, जो मनमें बार-बार उठते रहते हैं, उन्हींके अनुसार आपका नया जीवन ढल जाता है। इन्हीं विश्वासोंका प्रतिबिम्ब आपके मुखमण्डलपर द्युतिमान् हो उठता है। अतः ऊपर लिखे मूल्यवान् विश्वासोंको दुहराइये। उनके अनुसार ही कार्य कीजिये। जब ये भाव आपके गुप्त मनमें जम जायँगे, तब आत्मबल बढ़ जायगा। जीवनमें आधी विजय तो शिव-संकल्पसे हो जाती है; शेष आधीके लिये परिश्रम करना होता है। कोई अच्छा अवसर मिलते ही मनमें दृढ़-संकल्प रखकर दूसरोंकी अपेक्षा अधिक स्थिरतासे परिश्रम करना चाहिये।

चेतावनी !

भजन बिनु बैल बिराने ह्वैहौ।
पाउँ चारि, सिर सींग, गूँग मुख, तब कैसें गुन गैहौ॥
चारि पहर दिन चरत-फिरत बन, तऊ न पेट अघैहौ।
टूटे कंध अरु फूटी नाकनि, कौ लौं धौं भुस खैहौ॥
लादत-जोतत लकुट बाजिहैं, तब कहँ मूँड़ दुरैहौ।
सीत-घाम-घन बिपति बहुत बिधि, भार तरैं मरि जैहौ॥
हरि-संतन कौ कह्यौ न मानत, कियौ आपुनौ पैहौ।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु, मिथ्या जनम गँवैहौ॥

—सूरदास

वैदिक वाङ्मय

(लेखक—डॉ० श्रीकोशलेशजी भारद्वाज, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

श्वेताश्वतर-उपनिषद्में कहा गया है कि 'भगवान् नारायणने स प्रथम अपने संकल्पसे ब्रह्माजीको प्रकट किया और उन्हें वेद पढ़ा दिये[1]।' प्रारम्भमें वेद एक ही था। उसमें अनेकों ऋचाएँ थीं, जिन्हें पद्यमय स्तोत्र कह सकते हैं; अनेकों यजु थे, जिन्हें यज्ञ-सम्बन्धी चर्चा कहा जा सकता है; अनेकों साम थे, जो गानेयोग्य पदावलियाँ थीं; और ये अनेकों लोकोपकारी विषयोंपर प्रकाश डालनेवाले विविध छन्द[2]। इन चारों शैलियोंसे सम्पन्न समग्र वेद बहुत समय-तक अर्थात् सत्ययुग और तदनन्तर त्रेतायुगतक भी एक ही था। भगवान् रामने भी वेद और समस्त अङ्गोंका अध्ययन करके उसके तत्त्वका साक्षात्कार किया था[3]। द्वापरयुगमें आकर मानवका मस्तिष्क समग्र वेदके ग्रहणके लिये समर्थ नहीं रहा, अतएव महर्षि कृष्णद्वैपायनने वेदके पढ़ने-पढ़ानेकी सुविधाके लिये उसको अलग-अलग चार भागोंमें विभक्त कर दिया। संस्कृतमें विभागको 'व्यास' भी कहते हैं; अतः वेदोंका व्यास करनेके कारण कृष्ण-द्वैपायनको कृतज्ञ जनताने 'वेदव्यास' की उपाधिसे विभूषित किया। प्रायः वे अब 'वेदव्यास' अथवा केवल 'व्यास'के नामसे ही विख्यात हैं[4]। व्यासजीने अपने शिष्योंमेंसे पैलको ऋग्वेद, वैशम्पायनको यजुर्वेद, जैमिनिको सामवेद और सुमन्तुको अथर्ववेद पढ़ाया था।

मन्त्र और ब्राह्मण

वेद एक दूसरी दृष्टिसे दो प्रधान भागोंमें विभक्त है। एकका नाम है—मन्त्र और दूसरेका ब्राह्मण[5]। जिसका मनन किया जाय, अथवा जो मनन करनेवालेकी रक्षा करे, उसे मन्त्र कहते हैं[6]। भारतीय परम्पराके अनुसार विद्वानोंकी मान्यता इस प्रकार है कि वेदमें एक लाख मन्त्र हैं[7], जिनमेंसे चार हजार मन्त्र तो ज्ञानकाण्डके प्रतिपादक हैं, सोलह हजार उपासना-विधिके बतानेवाले हैं और अस्सी हजार कर्मकाण्डके लिये उपयोगी हैं।

मन्त्रका एक और समानार्थक शब्द है—'ब्रह्म'। उस ब्रह्म अर्थात् मन्त्रकी व्याख्या करनेवाले भागको 'ब्राह्मण' कहते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ अनेक हैं। ऋग्वेदका 'ऐतरेय ब्राह्मण' प्रसिद्ध है, यजुर्वेदका 'शतपथ' सामवेदका 'पञ्चविंश' और अथर्ववेदका 'गोपथ'।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंके कर्मकाण्डवाले अंशको ही 'ब्राह्मण' कहते हैं। यज्ञोंका कार्यकलाप प्रायः ग्रामोंमें और नगरोंमें होता था और ज्ञानकी चर्चा प्रायः वनोंके एकान्त प्रदेशोंमें होती थी। वनको संस्कृतमें 'अरण्य' भी कहते हैं; अतएव ज्ञानचर्चावाले अंशको 'आरण्यक' कहा जाने लगा[8]। इसी प्रकार ब्राह्मणोंके उस अंशको उपनिषद् कहा जाता है, जिसमें परमात्माकी उपासनाकी विधि बतायी गयी है। इस प्रकार वेदके मुख्य दो भागोंका (मन्त्र और ब्राह्मणका) चार नामोंसे निरूपण होने लगा। वे चार नाम हैं—मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्।

चार उपवेद

प्रत्येक वेदके साथ एक उपवेदका भी सम्बन्ध है। ऋग्वेदका उपवेद है आयुर्वेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गन्धर्ववेद अथवा संगीत-शास्त्र और अथर्ववेदका स्थापत्यवेद अथवा अर्थशास्त्र[9]।

---

१. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १८)

२. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥
(ऋक्संहिता १०। ९०। ९; यजुःसंहिता ३१। ७; तैत्तिरीयारण्यकम् ३। १२। ४; अथर्वसंहिता १९। ६। १३)

३. 'वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः' (श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम् १। १। १४)

४. ततोऽत्र मत्सुतो व्यासस्त्वष्टाविंशतिमेऽन्तरे।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत् प्रभुः॥
(विष्णुपुराणम् ३। ४। २)

५. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। (आपस्तम्बः)

६. मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्त्तितः।

७. लक्षं तु चतुरो वेदाः। (चरणव्यूहपरिशिष्टम्, पञ्चमी कण्डिका)

८. अरण्याध्ययनादेतदारण्यकमितीर्यते। (तैत्तिरीयारण्यक-व्याख्याने सायणः)

९. तत्र वेदानामुपवेदाश्चत्वारो भवन्त्यृग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो

छः अङ्ग

वेदके वास्तविक अध्ययनके लिये उसके छः अङ्गोंका भी अध्ययन आवश्यक है। वे हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष[10]। मन्त्रोंके शुद्ध उच्चारणकी विधि शिक्षाग्रन्थोंसे प्राप्त होती है; विभिन्न यज्ञोंके विधि-विधानोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन कल्पग्रन्थोंमें मिलता है और शब्दोंकी सिद्धि एवं व्युत्पत्तिका ज्ञान व्याकरणसे होता है। इसी प्रकार वेदके शब्दोंके विभिन्न अर्थोंके ज्ञान करानेवाले शास्त्रको 'निरुक्त' कहते हैं; गायत्री, अनुष्टुप् आदि छन्दोंकी चर्चा छन्दश्शास्त्रमें है और ज्यौतिषके द्वारा हमें आकाशके विभिन्न ग्रह-नक्षत्रादिकी स्थितिका तथा भूमिपर रहनेवाले मानवोंपर उनके भले-बुरे प्रभावका ज्ञान हो जाता है।

छः उपाङ्ग

वेदके छः उपाङ्ग भी हैं, जिन्हें 'षट्शास्त्र' अथवा 'षड्दर्शन' कहते हैं।[11] महर्षि कपिलका सांख्य, महर्षि पतञ्जलिका योग, महर्षि गौतमका न्याय, महर्षि कणादका वैशेषिक, महर्षि जैमिनिकी मीमांसा और महर्षि व्यासदेवका वेदान्त—ये छः शास्त्र वेदके गम्भीर तत्त्वोंको समझनेमें बड़े सहायक हैं। जड और चेतनका विभाग सांख्यने समझाया है; न्याय और वैशेषिकने परमाणुओंसे जगत्का विकास बताया है; मीमांसाने वेदके स्वरूप और महिमाको दिखानेके लिये अनेक युक्तियाँ दी हैं; योगने समाधि-सुखका अनुभव करनेका मार्ग बताया है और वेदान्तने नाम और रूपवाले इस जगत्में निगूढ़ परब्रह्मकी सत्ताका ज्ञान दिया है।

विद्याओंकी आधारशिला

प्राचीन भारतमें धर्मज्ञ और विद्वान् बननेके लिये १४ विद्याओं[12] और ६४ कलाओंके अध्ययनका नियम था। विद्याओंकी गणनामें चार वेद, छः वेदाङ्ग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र लिये जाते थे। वेदोंके अतिरिक्त जो दस विद्याएँ थीं, वे भी वेदोंके रहस्यको समझनेके लिये ही पढ़ी जाती थीं। इस बातसे वेदोंका गौरव स्वयं सिद्ध हो जाता है।

वेदका अवतार

संस्कृतके विद्वानोंमें वाल्मीकि-रामायणका बहुत सम्मान है। उसका कारण यही है कि रामायणके नायक भगवान् रामने अपनी अवतार-लीलामें अपने निःश्वासभूत वेदमें निर्दिष्ट आदेशोंका लोकसंग्रहके लिये स्वयं पालन किया था। जब श्रीरामने वेदोक्त धर्मका पालन किया तो हमें भी वेदके बताये हुए मार्गका अवश्य अनुसरण करना चाहिये, यह शिक्षा मिलती है। संस्कृतमें एक सूक्ति है, जिसका आशय यह है कि 'परम-पुरुष नारायणने जब दशरथनन्दन-रूपसे अवतार लिया तो वेद भी महर्षि वाल्मीकिके माध्यमसे रामायण-रूपमें प्रकट हो गये।'[13]

वेदका उपबृंहण

वेदोंका प्राकट्य सृष्टिके आरम्भमें हुआ था। उन दिनोंकी संस्कृतसे आजकलकी संस्कृततक कालक्रमानुसार बहुत कुछ परिवर्तन आ चुका है। प्राचीन भाषापर पूर्णरूपसे अधिकार हुए बिना वैदिक-रहस्योंको हृदयंगम करना बहुत कठिन है, अतएव वैदिक-तत्त्वोंको अर्वाचीन संस्कृतमें सुगम और रोचक शैलीमें समझानेकी आवश्यकता समझकर व्यासजीने इतिहास (महाभारत) और पुराणोंकी रचना की थी।[14] हमें भी इतिहास और पुराणोंके माध्यमसे वेदोंकी रहस्यमय गुत्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न करना चाहिये।

यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः, सामवेदस्य गान्धर्ववेदोऽथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान् व्यासः।
(चरणव्यूहपरिशिष्टस्य चतुर्थः खण्डः)

१०. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते॥
(चरणव्यूहपरिशिष्टम्, द्वितीय कण्डिका)

११. षड्दर्शनानि मेऽङ्गानि पादौ कुक्षिः करौ शिरः। (तन्त्रशास्त्रम्)

१२. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥
(याज्ञवल्क्यस्मृतिः १।१।३)

१३. वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥

१४. वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः।
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति॥

चार पुरुषार्थ

वेदने मानव-जीवनके चार लक्ष्य बताये हैं, जिन्हें 'पुरुषार्थ' भी कहते हैं। वे हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। जिस कार्यको करनेके लिये वेदसे प्रेरणा मिलती है, वह धर्म[१५] है। उदाहरणके लिये, वेदकी आज्ञा है, 'सत्यं वद' अर्थात् सच बोलो। अतः सच बोलना धर्म है। दूसरी आज्ञा है, 'मातृदेवो भव।' 'पितृदेवो भव।' 'आचार्यदेवो भव।' 'अतिथिदेवो भव।' अर्थात् अपने माता-पिता, गुरुदेव और अतिथिका देवताके समान आदर करो,[१६] तब बड़ोंका सम्मान-सत्कार करना भी धर्म है। इसी प्रकार धर्मके अन्तर्गत बहुत-सी बातें हैं, जिन्हें हम वेदमें पढ़ते हैं। निष्कर्ष यह है कि वेदोक्त आदेशोंका पालन करना 'धर्म' है और यह मानव-जीवनका प्रथम पुरुषार्थ है।

दूसरा पुरुषार्थ है—अर्थ अर्थात् अर्थोपार्जन। धनके अन्तर्गत संसारके अनेकानेक पदार्थ हैं, जो जीवनमें उपयोगी होनेके कारण संग्रहणीय हैं। ऐसे उपयोगी पदार्थोंमें सर्व-प्रधान है, अन्न। गृहस्थोंको अन्नका प्रचुर संग्रह करना चाहिये[१७]। अन्न अर्थका प्रतीक है। सभी उपयोगी पदार्थोंका —खान-पान, यान-वाहन, घर-द्वारका—प्रचुर और पर्याप्त संग्रह होना चाहिये, यह वैदिक मान्यता है। यहाँ ध्यान देनेयोग्य बात केवल एक है, और वह यह है कि अर्थका जितना भी उपार्जन हो, वह सचाईसे, ईमानदारीसे होना चाहिये। कमाओ, संतोष और ईमानदारीसे[१८]। अधर्मकी कमाई अशुचि और अपवित्र मानी गयी है। उससे तो बचना चाहिये; क्योंकि वह पाप अथवा अधर्मके अन्तर्गत है।

तीसरा पुरुषार्थ है—काम, जिसके लिये वेदकी स्पष्ट आज्ञा है कि 'विधिपूर्वक विवाह करो जिससे कि संतति-वल्लरी (संतानरूपी बेल) सूख न जाय[१९]।' स्त्री-पुरुषके पारस्परिक कामोपभोगके लिये आज्ञा देते हुए वेदका यह संदेश है कि यह कामोपभोग भी धर्म-संपृक्त ही होना चाहिये। इस कथनका सारांश यह है कि विवाह-वेलामें अग्नि आदिके समक्ष जिस व्यक्तिको अपना जीवन-साथी चुना है, उसके प्रति सर्वदा सच्चे भावसे रहना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें पुरुषको आजीवन पत्नीव्रती और स्त्रीको पतिव्रता रहना चाहिये। काम और धर्मका यह साहचर्य वैदिक-परम्पराका जीवन्त प्राण है। तभी तो गीतामें श्रीभगवान्‌का वचन है कि 'धर्मके अनुकूल काम मेरी विभूति[२०] है।'

चौथा पुरुषार्थ है—मोक्ष, जिसकी प्राप्ति होनेपर संसारके समस्त पाप-तापों और कष्ट-संकटोंसे छुटकारा मिलकर चिरन्तन आध्यात्मिक शान्तिका[२१] अनुभव होता है। मोक्षकी भावना वेदरूपी सूर्यकी वह शुभ्र तेजोमयी किरण है, जिसका स्मरण करके बड़े-बड़े तार्किक और विद्वान् भी उसके साक्षात्कारके लिये लालायित हो उठते हैं। मोक्षमार्गके प्रतिपादक उपनिषदोंका संदेश पढ़कर जर्मनीके दार्शनिक शोपेनहावरका यह उद्गार भुलाया नहीं जा सकता कि 'सारे संसारमें ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदोंके समान उपयोगी और उन्नतिकी ओर ले जानेवाला हो। वे उच्चतम प्रज्ञाकी उपज हैं। आगे या पीछे एक दिन ऐसा होना ही है कि यह जनताका धर्म होगा[२२]।'

वैदिक वाङ्मयके इसी गौरवको दृष्टिमें रखकर आचार्य शंकरने ठीक ही लिखा था—

'वेदो नित्यमधीयताम्।'

---

१५. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। (मीमांसादर्शनम् १ । १ । २)

१६. तैत्तिरीयोपनिषद्। (१ । ११ । १)

१७. अन्नं बहु कुर्वीत। (तैत्तिरीयोपनिषद् ३ । ९)

१८. अर्थस्य मूलं धर्मः। (चाणक्यसूत्रम्)

१९. प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। (तैत्तिरीयोपनिषद् १ । ११ । १)

२०. धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥ (गीता ७ । ११)

२१. विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्॥ (कठोपनिषद् १ । ३ । ९)

22. "In the world there is no study...so beneficial and so elevating as that of the Upanisads...(they) are a product of the highest wisdom...It is destined sooner or later to become the faith of the people." (Schopenhaver)

'कवितावली'का एक भावपूर्ण सवैया

(लेखक—श्रीरामाश्रयप्रसादसिंहजी)

भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास-विरचित ग्रन्थोंमें 'कवितावली' अपना गौरवपूर्ण स्थान रखती है। भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों ही दृष्टियोंसे यह एक विशिष्ट रचना है। लोकप्रियताकी दृष्टिसे गोस्वामीजीकृत ग्रन्थोंमें इसका चौथा स्थान है। इस ग्रन्थकी रचनाको लेकर विद्वानोंमें काफी मतभेद है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि स्वतन्त्ररूपमें इस ग्रन्थ-की रचना तुलसीदासजीने नहीं की थी। लगता है कि उनके किसी भक्तने उनकी मृत्युके पश्चात् उनके फुटकर पदोंका संग्रह इस ग्रन्थके रूपमें कर दिया। किंतु दूसरे वर्गके विद्वान् इस बातको नहीं मानते। उनका निश्चित मत है कि कवितावलीकी रचना स्वयं गोस्वामीजीने स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें की है। हम यहाँ किसी विवादमें नहीं पड़ना चाहते। इतना सच है कि कवितावली गोस्वामी तुलसीदासकी ही कृति है और इसमें कवित्त-सवैये-शैलीमें उन्होंने राम-कथाके कुछ विशेष मार्मिक प्रसङ्गोंको स्थान दिया है। इसीलिये इसमें प्रबन्ध-काव्यके समान कथा-प्रवाह न होकर मुक्तक शैलीका आनन्द है। कवितावली गोस्वामीजीके 'मन-पसंद कवित्तोंकी अवली' है। इसे 'कवित्त-रामायण' भी कहते हैं। इसका एक-एक कवित्त और एक-एक सवैया गोस्वामीजीके भाव-पूर्ण हृदय-सिन्धुका रस-पूर्ण उच्छलन है।

'श्रीरामचरितमानस', 'विनय-पत्रिका' एवं 'गीतावली'-के पश्चात् 'कवितावली'का स्थान आता है। पर पता नहीं क्यों, कवितावलीको मैं इस क्रममें न रखकर 'गीतावली'के पहले इसका स्थान रखता हूँ। हो सकता है, इसमें रुचि-भेद ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता हो। 'गीतावली'की कोमलता और मधुरता निस्संदेह सराहनीय है, पर कवितावलीके छन्दों-में जो प्रवाहमयता और सहजता है, वह अद्वितीय है।

कवितावलीमें अयोध्या-त्यागका केवल दो सवैयोंमें ही गोस्वामीजीने वर्णन किया है। यह वर्णन इतना भावमय और मार्मिक है कि पढ़ते ही हमारी आँखें बरसने लगती हैं। इस प्रसङ्गको पढ़ते समय जहाँ भगवान् रामके त्यागको देखकर हमारी आँखें भर आती हैं, वहीं गोस्वामीजीकी भाव-सम्पदा, वर्णन-शैली और अलंकार-सौन्दर्यको देखकर हमारे मन-मस्तिष्क झूम उठते हैं। वस्तु और रूप—दोनों ही दृष्टियोंसे ये दोनों सवैये अद्वितीय हैं। गोस्वामीजीने इस प्रसङ्गमें अपनी ही एक उक्ति चरितार्थ कर दी है 'अर्थ अमित अरु आखर थोरे।' कहनेका क्या ही सुन्दर ढंग पाया था गोस्वामीजीने। कवियोंके मनमें नाना प्रकारके भाव आते-जाते रहते हैं; पर काव्यकी विशेषता तब मानी जाती है, जब कवि अपने कथ्यको पाठकके मर्मतक पहुँचा दे और पाठक उसे पढ़कर कुछ समयके लिये अपनी सुध-बुध खो बैठे। कवितावलीके इन दो सवैयोंमें काव्य-कलाका श्रेष्ठ निदर्शन तो हुआ ही है, गोस्वामीजीके राम-भक्तिसे पूर्ण हृदयका परिचय भी इनसे मिलता है। लगता है, गोस्वामीजीने रामके अयोध्या-त्यागका शब्दमय चित्र ही खींच दिया है। बिम्ब-विधान (Image) की दृष्टिसे ये दोनों छन्द सर्वोत्तम तो हैं ही, अनुभूतिकी गहराई, उसकी सूक्ष्म पकड़ और अभिव्यक्तिकी प्राञ्जलताकी दृष्टिसे भी ये अप्रतिम बन पड़े हैं। तुलसीदासजी भाव-सम्पदाके धनी कलाकार तो थे ही, अभिव्यञ्जनाके क्षेत्रमें भी सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मयमें वाल्मीकि और कालिदासको छोड़ इनकी बराबरीका दूसरा कोई कवि नहीं दिखलायी पड़ता।

'कवितावली' अयोध्याकाण्डके वे दोनों भावपूर्ण सवैये ये हैं—

(क) कीरके कागर ज्यों नृपचीर, बिभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगबासके रूख ज्यों, पंथके साथ ज्यों लोग-लोगाई॥
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया, मनो धर्मु क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन रामु चले तजि बापको राजु बटाउ कीं नाई॥

जिस प्रकार तोता अपने पंखोंको त्यागकर नयी शोभासे दीप्त हो उठता है, उसी प्रकार भगवान् रामने वनवासके समय राजसी वस्त्रों और आभूषणोंको त्यागकर अद्वितीय शोभाको प्राप्त किया। अयोध्याका त्याग उन्होंने रास्तेमें पड़नेवाले वृक्षोंकी तरह किया तथा नगरके नर-नारियोंका त्याग रास्तेके संगी-साथियोंके समान किया। उनके साथ सुन्दर भाई लक्ष्मण थे और पवित्र पत्नी सीता थीं। ये दोनों ऐसे मालूम पड़ते थे, मानो रामकी पुण्य-क्रिया और धर्मने ही देह धारण कर लिया हो और शोभा पा रहे हों। कमल-नयन राम अपने पिता दशरथके राज्यको बटोहीकी भाँति छोड़कर चल दिये।

(ख) कागर कीर ज्यों भूषनचीर सरीरु लस्यो तजि नीरु ज्यों काई।
मातु-पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभायँ सनेह सगाई॥
संग सुभामिनि, भाइ भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन रामु चले तजि बापको राजु बटाउ कीं नाई॥

भगवान्के लिये वस्त्र और आभूषण तोतेके पंखके समान थे। उन्हें त्याग देनेपर उनका शरीर ऐसा सुशोभित हुआ, जैसे काईके हट जानेपर जल। माता-पिता और प्रिय लोगोंको स्वभावसे ही उनके स्नेह और सम्बन्धानुसार सम्मानित कर

कमलनयन भगवान् राम साथमें सुन्दर पत्नी और भले भाईको ले अपने पिताका राज्य अतिथि-बटोहीकी भाँति छोड़कर चल दिये, मानो वे अयोध्यामें दो ही दिनकी मेहमानीपर थे।

हम यहाँ केवल प्रथम सवैयापर ही विचार करेंगे। इस सवैयाके चार चरणोंमें चार प्रकारकी बातें कही गयी हैं—प्रथम चरणमें राजसी वस्त्रों और आभूषणोंका त्याग, दूसरे चरणमें अवध तथा अवधवासियोंका त्याग, तीसरे चरणमें अनुज लक्ष्मण और धर्मपत्नी सीताका साथ और चतुर्थ चरणमें राजीवलोचन रामद्वारा अपने पिताके राज्यका त्याग। इनका अलग-अलग विशेषार्थ देखें।

(क) श्रीरामने अपने अङ्गोंसे राजकीय वस्त्रों एवं अलंकारोंको स्वभावसे ही उतार दिया; ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार सुगा अपने पंखोंको स्वभावतः झाड़ देता है; उसे अपने पंखोंके झड़ जानेका दुःख या शोक नहीं होता; इसी प्रकार श्रीरामने भी दुःख-शोकसे रहित होकर अपने वस्त्राभूषणोंका त्याग किया। एक बात यह बड़ी ही अभूतपूर्व बन पायी है कि श्रीरामकी उपमा कीरसे दी गयी। तोतेके पंखके स्वभावतः झड़ने तथा भगवान् रामके स्वभावतः वस्त्राभूषणोंके त्यागमें अपूर्व समता तो है ही, एक और समता भी दर्शनीय है। श्रीरामकी अङ्ग-कान्ति नीली है और उसपर वे पीताम्बर धारण करते हैं। नील और पीत वर्ण मिलकर हरी कान्ति धारण करते हैं। उनका वर्ण कीरकी तरह हो जाता है। अतः कीरसे रामकी यह उपमा पूर्ण सापेक्ष है।

(ख) श्रीराम मार्गमें मिलनेवाले वृक्षोंके समान अयोध्याका त्याग करते हैं और मार्गमें मिल जानेवाले संगी-साथियोंके समान अवधके नर-नारियोंका त्याग करते हैं। ये दोनों उपमाएँ भी द्रष्टव्य हैं। गोस्वामीजी उपमा देनेमें बड़े निपुण हैं। इनकी उपमाएँ बड़ी पूर्ण होती हैं। हम देखते हैं कि मार्गमें वृक्षकी छायामें पथिक कुछ क्षण विश्रामके निमित्त ही बैठता है। उस वृक्षसे पथिककी न कोई ममता होती है और न किसी प्रकारका मोह ही। इसी प्रकार अयोध्यासे रामका सम्बन्ध वैसा ही था, जैसा एक पथिकका विश्रामके निमित्त मार्गके वृक्षसे होता है। श्रीरामका अयोध्यासे सम्बन्ध होते हुए भी इस उपमाद्वारा उन्हें असम्बद्ध सूचित कर ममतारहित सिद्ध किया गया है। इस प्रकार यहाँ अलंकार-व्यञ्जय वस्तु-ध्वनि है।

इसी प्रकार अवधके नर-नारियोंके त्यागकी बात कही गयी है। मार्गमें भिन्न-भिन्न दिशाओंकी ओर जाते हुए पथिक मिलते हैं, कुछ दूरतक साथ-साथ चलते हैं और फिर एक दूसरेसे विदा ले लेते हैं। श्रीरामका और अयोध्याके लोगोंका लक्ष्य भिन्न-भिन्न था। अवधवासी श्रीरामको राजा बनाना चाहते थे और भगवान् श्रीराम वन जाकर राक्षसोंका विनाश कर धर्म तथा सुराज्य (रामराज्य) की स्थापना करना चाहते थे। अतः दोनोंका साथ छूटना अनिवार्य था; ठीक वैसे ही जैसे अपने-अपने लक्ष्योंकी ओर अग्रसर होते हुए पथिकगण मार्गमें मिलते हैं और बिछुड़ते हैं।

(ग) श्रीरामके साथ उनके अच्छे अनुज श्रीलक्ष्मण और पुनीत पत्नी सीताजी थीं। यहाँपर गोस्वामीजीने उत्प्रेक्षा अलंकारके माध्यमसे एक बड़ी ही अच्छी एवं सारगर्भित बात कही है। लक्ष्मणजी धर्म हैं और सीताजी क्रिया हैं। उत्प्रेक्षाके द्वारा गोसाईंजी कहना चाहते हैं कि भगवान् रामके धर्म तथा उनकी क्रियाने ही मानो लक्ष्मण और सीताका रूप धारण कर लिया है और इस प्रकार दोनों उनके साथ वनको जा रहे हैं। सीताजी रामजीकी क्रिया हैं। 'मानस'-में बालकाण्डके अन्तर्गत विवाहके अवसरपर वरासनपर स्थित चारों वरों एवं वन्धुओंके लिये गोस्वामीजीने 'क्रियन सहित फल चार' कहा है। यहाँ सीताजी, जो रामजीकी क्रिया हैं, उनका अनुगमन करती हैं एवं उनके धर्मस्वरूप लक्ष्मण उनकी क्रियाके पीछे हैं। यह पूर्ण मानवकी, पुरुषोत्तमकी अनुपम अभिव्यक्ति है। श्रीरामने सीता और लक्ष्मण दोनोंको अयोध्यामें ही छोड़ना चाहा था; क्योंकि वनवास केवल रामका ही हुआ था; परंतु सीताजी और लक्ष्मणजीने श्रीरामको नहीं छोड़ा। श्रीरामकी इच्छाके विपरीत वे दोनों उनके अनुगामी बने। उपदेश दिया गया कि पूर्ण धार्मिकद्वारा धर्म और क्रियाके परित्यागकी इच्छा होनेपर भी जब धर्म और कर्म साथ न छोड़ें, निरन्तर साथमें लगे रहें, तब समझना चाहिये कि मानव अपने पूर्णतम रूपमें पहुँच गया है। श्रीराम पुरुषोत्तम हैं, मानवताकी पूर्णतम अभिव्यक्ति उनमें हुई है। यही कारण है कि उनके कर्म और धर्म सदा उनके साथ बने रहते हैं।

इस उत्प्रेक्षामें एक और अद्वितीय रहस्य छिपा है। श्रीरामके पीछे उनका कर्म है और कर्मके पीछे धर्म। वन जाते समय श्रीराम आगे-आगे चलते थे, श्रीसीताजी उनके पीछे और श्रीलक्ष्मण सीताजीके पीछे। धार्मिक, उसकी क्रिया और उसका धर्म—यही क्रम है; पूर्ण मानवकी विकास-यात्राका। इसका तात्पर्य यह है कि श्रीराम क्रियाएँ करते चलते हैं और धर्म पीछेसे उनका अनुमोदन करता चलता है। पूर्ण मानवकी सभी क्रियाएँ धर्म-सम्मत होती हैं। इस सवैयाके माध्यमसे गोस्वामीजीने यही संदेश दिया है कि पूर्ण मानव जो भी कर्म करेगा, वह धर्मद्वारा अनुमोदित होगा; वह सत्कर्म होगा। श्रीरामके दिव्य चरित्रसे गोस्वामीजीने इसी तथ्यका साक्षात्कार कराया है।

शास्त्र-वचन है—'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।' श्रीरामके धर्म हैं, श्रीलक्ष्मण । श्रीराम श्रीलक्ष्मणकी रक्षा करते हैं और श्रीलक्ष्मण सीताजीसहित श्रीरामकी रक्षा करते हैं । 'मानस' में वर्णन भी आया है, श्रीराम अपनी क्रिया सीताजीके साथ लक्ष्मणकी रक्षा करते हैं—

'जोगवहिं प्रभु सिय लखनहिं कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसें ॥'

(मानस २ । १४१ । ½)

इधर श्रीराम और सीताजी लक्ष्मणकी रक्षा उसी प्रकार करते हैं, जैसे दोनों पलकें आँखोंकी रक्षा करती हैं और उधर श्रीसीतारामके सो जानेपर धर्मस्वरूप लक्ष्मण धनुष-बाण लेकर रातभर जगकर उन दोनोंकी रक्षा करते हैं । इस सवैयासे गोस्वामीजीने शास्त्र-वचनको ही अभिव्यक्त कर यह उपदेश दिया है कि जो धर्मकी रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म भी करता रहता है । अतः मनुष्यको अपने धर्मको कभी नहीं छोड़ना चाहिये । गीता तथा हमारे अन्य धर्मग्रन्थोंमें जो स्वधर्म नहीं छोड़नेकी बात कही गयी है, उसका तात्पर्य यही है । सत्कर्म और स्वधर्मके बिना मानव-जीवन अपूर्ण ही नहीं, आधारहीन भी है ।

(घ) अन्तिम पङ्क्तिमें राजीवलोचन रामको 'बटोही' कहा गया है । सबसे पहले हम 'राजीवविलोचन' शब्दको देखें । श्रीरामके लिये 'राजीवविलोचन' विशेषण बड़ा गूढ़ अर्थ रखता है । राजीवका अर्थ होता है—लाल कमल । राजीवलोचन लाल नेत्रोंवाले व्यक्तिको कहते हैं । लाल कमलमें लाली अनिवार्य है; वैसे ही श्रीरामके नेत्रोंमें भी लाली है । यहाँपर वन जाते समय श्रीरामको राजीवलोचन क्यों कहा गया, यह विचारणीय प्रश्न है । इसपर संतों-महात्माओंने पूरा विचार किया है । उन्होंने बतलाया है कि 'जहाँ कमलकी सुकुमारता और लाल रंग भक्तोंके लिये प्रेम और भक्तिके प्रतीक हैं, वहाँ प्रभु रामके नेत्रोंकी लाली दुष्टोंके प्रति ईषत् क्रोधका परिचायक है ।' 'मानस'में बालकाण्ड १७ । ५ के अन्तर्गत श्रीरामकी वन्दनाके समय गोस्वामीजी श्रीरामके लिये 'राजिवनयन' विशेषण देकर कहते हैं—

'राजिवनयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक ॥'

धनुष-बाण लिये प्रभु राम, जिनके नेत्र लाल कमलके सदृश हैं, भक्तोंकी विपत्तिका भञ्जन कर सुख देनेवाले हैं ।

श्रीरामकी तुलना एक बटोहीसे की गयी है । यहाँ भी तुलसीदासजीकी यह वाणी बड़ा उच्च अर्थ रखती है । अपने पिता श्रीदशरथके महान् ऐश्वर्यसे पूर्ण राज्यका त्याग करना साधारण बात नहीं थी । हम संसारी जीव इस नश्वर जीवनमें, परिवर्तनशील संसारमें, थोड़ेसे भी धनसे ऐसे चिपके रहते हैं, मानो यही हमारे जीवनका लक्ष्य हो । हम कौन कुकर्म नहीं करते । राज्यके लिये कौन कहे, छोटेसे स्वर्ण-कणके लिये हम भाईको मौतके घाट उतार देते हैं । पिता पुत्रका घातक बनता है तो कभी पुत्र पिताका । भाई-भाई शत्रु बन जाते हैं । सारा सम्बन्ध स्वर्णके एक क्षुद्र कणपर टिका हुआ है । पर धन्य हैं श्रीराम । श्रीरामको वैसा राज्य मिल रहा था, जिसे देखकर इन्द्रका राज्य भी श्रीहीन लगता था और कुबेरका खजाना तो मानो लाजके मारे गड़ा जाता था—

'अवध राज सुरराज सिहाई । दसरथ धन सुनि धनद लजाई ॥'

—ऐसे अद्वितीय और अलौकिक राज्यको श्रीरामने ऐसे ही छोड़ दिया, जैसे कोई बटोही रातभर कहीं विश्राम करता है और सुबह होते ही वहाँसे अपने गन्तव्यकी ओर चल देता है । बटोहीको किसी भी प्रकारका मोह उस स्थान-विशेषके प्रति नहीं होता । उसको किसीके राज्य या सम्पत्ति या धनसे कोई मतलब नहीं । उसका गन्तव्य कुछ दूसरा होता है, उसका लक्ष्य कुछ और होता है । यही कारण है कि गोस्वामीजीने श्रीरामके अवध-त्यागके समय उनकी तुलना एक बटोहीसे की । तात्पर्य यह है कि श्रीरामका एक निश्चित लक्ष्य था और उसी लक्ष्यकी पूर्तिके निमित्त वे आये थे । अयोध्या उनके लक्ष्यकी पूर्तिके मार्गमें एक पड़ाव थी । अतः उन्होंने सब कुछ त्याग दिया, ठीक उसी प्रकार जैसे एक बटोही अपने विश्राम-स्थलको निर्मोही बनकर त्याग देता है । श्रीरामके लिये अवध तो मानो दो दिनोंकी पहुनाईके समान था । इसी काण्डके दूसरे सवैयेमें गोस्वामीजीने कहा भी है—

"दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई ।"

इस प्रकार 'कवितावली'के इस एक ही सवैयामें गोस्वामीजीने कितना अर्थ भर दिया है, यह देखनेकी वस्तु है । श्रीरामके अयोध्या-त्यागका इतना मार्मिक और भाव-पूर्ण वर्णन शायद ही कहीं मिले । भक्त-हृदय और काव्य-प्रतिभाका यह विरल संयोग देखते ही बनता है । गोस्वामीजीकी प्रतिभा बहुमुखी तो थी ही, किसी बातको कम-से-कम शब्दोंमें कहनेकी भी अद्भुत क्षमता उनमें थी । 'कवितावली'का एक-एक छन्द इस बातका परिचायक है । 'मानस-चतुश्शताब्दी-वर्ष' में हमें गोस्वामीजीके प्रत्येक ग्रन्थका अध्ययन कर, उससे उत्तम-उत्तम बातें लेकर अपना, अपने राष्ट्र और संस्कृतिका तथा विश्वका कल्याण करना चाहिये । गोस्वामीजीके ग्रन्थोंका सम्यक् अध्ययन एवं मनन ही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी ।

जिज्ञासुओंके प्रति निवेदन

(१)

भगवान्‌को पकड़े रहिये, फिर बेड़ा पार है

प्रिय महोदय !

सप्रेम हरिस्मरण । आपका करुणापूर्ण पत्र मिला। उससे आपकी मानसिक स्थितिका कुछ-कुछ आभास मिला। आप निराश न हों; प्रभु आपसे कहीं दूर नहीं हैं, आपके अति निकट, आपके भीतर ही हैं। अधिक क्या, आपका अपना स्वरूप ही हैं। वे आपसे क्या, किसीसे भी रूठते नहीं; जीवमात्रपर कृपाकी—स्नेहकी सतत वर्षा करते रहते हैं। उन्हींको पुकारते रहिये मनसे, इस विश्वासके साथ कि 'कबहुँक दीनदयाल के भनक परैगी कान।' उनका नाम लिये जाइये—'भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥' विश्वास रखिये—एक दिन उनकी कृपाको प्राप्तकर आप निहाल हो जायँगे। वे बड़े ही दयालु हैं, करुणानिधान हैं। उनसे बढ़कर हमारा अपना—हमारा अकारण हितू कोई नहीं है। बस, उन्हें भूलिये नहीं, निरन्तर याद रखनेकी चेष्टा कीजिये। फिर तो वे आपको छोड़कर कहीं जायँगे ही नहीं। उनके-जैसा स्नेही दूसरा कौन है। उनका भरोसा दृढ़तापूर्वक पकड़े रहिये। फिर बेड़ा पार है। शेष भगवत्कृपा।

(२)

पत्नीके स्वभाव-सुधारके उपाय

प्रिय महोदय !

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला, आपकी समस्या ज्ञात हुई। आपकी जीवन-सङ्गिनीका स्वभाव आपसे बिल्कुल मेल नहीं खाता, यह अवश्य विचारकी बात है। आप उन्हें कभी-कभी कोई धर्मविषयक चर्चा सुनाते हैं तो वे चिढ़-सी जाती हैं; ऐसी स्थितिमें आपको उनके सामने ऐसी चर्चा भूलकर भी नहीं करनी चाहिये। आपको उनके इस स्वभाव-वैषम्यको धैर्यपूर्वक बिना झुँझलाये या उकताये हुए सहन करना चाहिये। इसीमें मुझे आपका तथा उनका दोनोंका भला दीखता है। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो आपका और उनका जीवन दूभर हो जायगा। दिन-रात आप दोनोंका मन अशान्त बना रहेगा और बात-बातपर संघर्ष एवं कलह होंगे, जिनके कारण आपका गृहस्थ-जीवन दुःखमय हो जायगा। इस दुःखपूर्ण स्थितिसे बचनेका एकमात्र उपाय यह है कि आप दोनोंमेंसे जो अधिक समझदार हो, उसे धैर्य एवं विवेकपूर्वक स्थितिको सँभालनेकी चेष्टा करनी चाहिये; उखड़ना नहीं चाहिये। आपकी सहिष्णुता और मनका संतुलन उन्हें भी सहिष्णुताका पाठ पढ़ायेगा। किसीको भी अपने अनुकूल बनानेका एकमात्र सहज उपाय है, स्वयं उसके अनुकूल बन जाना। धीरे-धीरे आपकी सहिष्णुता और अनुकूलता उनमें भी सहिष्णुता और अनुकूलताका सृजन करेगी और मेरा दृढ़ विश्वास है कि एक दिन वे आपके सर्वथा अनुकूल बन जायँगी। अवश्य ही यह साधनसापेक्ष है और आपको धैर्य रखना होगा। यह काम एक दिनमें नहीं होनेका। इस साधनासे आपका लाभ तो होगा ही, जिसका आपने हाथ पकड़ा है, उसका भी निश्चित रूपसे लाभ होगा, यदि आप अपने प्रयत्नमें लगे रहेंगे, मनमें निराशाको नहीं आने देंगे।

किसीके जीवनमें मोड़ लाना सहज नहीं है और वह अपने सुधारसे ही सम्भव है। मनुष्य-जीवन बड़ा दुर्लभ है और आत्मसुधार ही हमारा सबसे बड़ा कर्तव्य होना चाहिये। दूसरा कोई हमारे प्रति अपने कर्तव्यका पालन करे, ऐसा चाहनेसे पूर्व हमें उसके प्रति अपने कर्तव्यका उचित ढंगसे पालन करना सीखना होगा। हम दूसरोंके प्रति अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करें, तभी हमें यह आशा करनी चाहिये कि दूसरे हमारे प्रति अपने कर्तव्यका पालन करेंगे। सभी यदि ऐसा सोचने और करने लग जायँ तो परिवार और समाज निश्चित ही स्वर्ग बन जायँ। इसके विपरीत यदि सब लोग यही सोचने लगें कि दूसरे हमारे प्रति अपने कर्तव्यका पालन करें, तब हम उनके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करेंगे तो सभी लोग केवल यही सोचते रहेंगे और कोई भी अपने कर्तव्यका पालन नहीं करेगा। अतः आप अपनी अर्धाङ्गिनीके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करना आरम्भ कर दें—इस बातकी परवा न करें कि वह कहाँतक आपके प्रति अपने कर्तव्यका पालन करती है।

शान्ति तो आपके मनमें है, कहीं बाहर खोजनेसे वह नहीं मिलेगी। जहाँ कहीं भी आप जायँगे, आपका मन तो आपके साथ ही रहेगा और अनुकूलता-प्रतिकूलता भी रहेगी ही। अतः शान्तिका एकमात्र उपाय यह है कि अ

अनुकूलताको खोजना बंद कर दें। भगवान्‌ने जो परिस्थिति आपके सामने रख दी है, उसीमें अनुकूलता माननेकी चेष्टा कीजिये। बस, आपकी प्रतिकूलता मिट जायगी और आपका मन शान्त हो जायगा।

सबसे प्यार पानेका उपाय यही है कि आप बदला न चाहते हुए सबको प्यार करना आरम्भ कर दें।

क्रोधको जीतनेका उपाय यह है कि आप दूसरोंके दोष देखना छोड़कर अपने दोषोंको देखना आरम्भ कर दें; साथ ही सबमें भगवान्‌को देखें। शेष भगवत्कृपा।

(३)

कटुवचन कहनेवालेके प्रति कैसा भाव रखना चाहिये ?

प्रिय बहन !

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप माँ जगदम्बापर प्रभूत श्रद्धा रखती हैं। माँ जगदम्बा ही आपकी उलझनोंको दूर करेंगी। आप बिल्कुल घबराएँ नहीं; माँ जगदम्बापर श्रद्धा रखनेवालोंका कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

आपके घरके एक व्यक्ति ऐसे हैं, जो आपको चुभती हुई बातें कह-कहकर आपके दिलको दुखाते रहते हैं। बहन ! बात यह है कि कोई भी किसीको सुख-दुःख नहीं दे सकता; मनुष्यके कर्म ही उसे सुख-दुःख पहुँचाते हैं। बुरा न मानना, तुमने भी पूर्व जन्ममें किसीको वाग्बाणोंसे व्यथित किया होगा, उसीका प्रतिफल तुम्हें इस जन्ममें मिल रहा है—यह निश्चित है। परंतु हमारे शुभाशुभ प्रारब्ध हमारे लिये सुख-दुःखका साधनमात्र प्रस्तुत करते हैं। सुखी-दुःखी होना हमारे हाथकी बात है। यदि हम किसीके कटु वचनोंको ग्रहण ही न करें तो किसीकी शक्ति नहीं, जो हमें दुःख पहुँचा सके। कोई हमारे शरीर अथवा नामको लेकर ही तो हमपर वाग्बाणोंकी बौछार करता है; यदि हम मनमें यह निश्चय कर लें कि हम न तो शरीर हैं न नाम ही—शरीर और नाम तो हमपर आरोपित हैं; हम इस शरीरके जन्मके पूर्व न यह शरीर थे, न यह नाम ही हमारा था; उस शरीर और नामको हम अब सर्वथा भूल गये हैं; अब यदि हमारे उस शरीर अथवा नामको लेकर कोई कटु वचनोंका प्रयोग करता है तो हम उन कटु वचनोंको कदापि ग्रहण नहीं करते; कारण, उन नाम-रूपोंकी हमें स्मृति ही नहीं है; इसी प्रकार वर्तमान नाम-रूपसे भी हम यदि विवेक-बलसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लें तो हमें उसके सम्बन्धमें कहे गये कटु वचनोंसे कोई दुःख नहीं होगा।

(२) दूसरा उपाय यह है कि हम अपने विषयमें कटु वचन कहनेवालेको अपना अपकारी न मानकर यदि उपकारी मान लें तो उसके उस व्यवहारसे हम दुःखी न होकर उसके प्रति कृतज्ञतासे भर जायँगे; क्योंकि वास्तवमें वह हमें अपने कटु वचनोंसे होनेवाले दुःखके रूपमें हमारे दुष्कृत्योंका फल भुगताकर हमें निष्पाप—शुद्ध कर रहा है। ऐसी दशामें वह हमारा अपकारी न होकर उपकारी है, अतएव कृतज्ञताका पात्र है; ऐसी भावना करके भी हम उसके असद्व्यवहारसे होनेवाले दुःखसे बच सकते हैं।

(३) तीसरा उपाय यह है कि हम प्रत्येक व्यक्तिमें, जिसके साथ हमारा व्यवहार होता हो, भगवद्बुद्धि करना सीखें; अर्थात् जब-जब कोई व्यक्ति हमें कटु वचन कहे, हम मन-ही-मन उसे भगवान् समझकर प्रणाम करें और मन-ही-मन उससे कहें—'प्रभो ! आपकी बड़ी दया है, जो आप इस प्रकार नाना रूप धारणकर हमें निष्पाप—शुद्ध करनेके लिये इस प्रकार कटु वचनोंका प्रयोग करके हमें पापमुक्त कर रहे हैं। आपकी इस कृपाकी बलिहारी है।'

(४) वैसे भी निन्दक या कटु वचन कहनेवाला हमारा भला ही करता है; क्योंकि वह बिना साबुन आदिका प्रयोग किये हमारा मल धोता है, इसलिये संतोंने कहा है—

'निंदक नियरे राखिए आँगन कुटी छवाय।'

इन सब प्रयोगोंको काममें लानेसे आपका दुःख दूर हो सकता है; इतना ही नहीं, आपमें निन्दा-स्तुति तथा मान-अपमानके प्रति समता आ सकती है, जो संतोंका गुण है। संत कबीरदासजीने जान-बूझकर एक वेश्याको पवित्रभावसे आश्रय देकर निन्दा एवं अपमानका वरण किया था। परंतु ऐसी चेष्टा तो संत ही कर सकते हैं; हम-जैसे साधारण प्राणी नहीं कर सकते। आशा है, ऊपरकी पंक्तियोंसे आपको कुछ बल मिलेगा और आपको अपनी विषम परिस्थितिका सामना करनेमें सहायता मिलेगी। शेष भगवत्कृपा।

आपका भाई,
चिम्मनलाल गोस्वामी

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आदर्श पुत्र, आदर्श माँ

बात पुरानी है। परम पूजनीय गुरुजी श्रीमाधवराव सदाशिव गोलवल्करजीकी पूजनीया माताजीको अचानक पक्षाघातका आक्रमण हुआ। सूचना पाकर गुरुजी माताजीके पास आये। उनके साथ निजी सेवक, सखा, हितैषीके रूपमें डाक्टर थट्टे सदा रहते थे। गुरुजीने उनसे माताजीको देखनेके लिये कहा। डा० थट्टेने माताजीका निरीक्षण करके बताया—'यह पक्षाघातका आक्रमण है, इसका पूर्ण इलाज हो नहीं सकता।'

स्थानीय योग्य डाक्टर बुलाये गये और माताजीका उपचार आरम्भ हुआ। गुरुजीका जीवन प्रवासी जीवन था, वे सदा ही प्रवास करते रहते थे। उनके स्वीकृत कार्यक्रमका समय हो चुका था, किंतु मातृभक्त गुरुजी माताकी अनुमतिके बिना उनकी रुग्णावस्थामें कैसे प्रवासपर जा सकते थे ? वे अनुमति लेनेके लिये माताजीके चरणोंमें उपस्थित हुए। माताजीको प्रणाम करके बड़े ही विनम्र शब्दोंमें उन्होंने पूछा—'माँ ! कई स्थानोंका कार्यक्रम बन चुका है, आज जानेका तै हुआ था; तुम्हारी अनुमति हो तो चला जाऊँ।'

माँ उस समय विशेष कष्टमें थी; पुत्रके दायित्वकी गरिमाके सम्बन्धमें वह उस क्षण विचार न कर सकी। उसने सहज स्नेहवश कह दिया—'नहीं।' माँके शब्द गुरुजीके लिये विधि-वाक्य थे। उन्होंने तत्काल मनमें सोच लिया, माँकी इच्छा भेजनेकी नहीं है तो सब जगह तारद्वारा अपने कार्यक्रम रद्द करनेकी सूचना दे दूँ। परंतु हठात् मनमें आया—'माँ मेरे निर्धारित कार्यक्रममें विघ्न पड़े, इसे कभी पसंद नहीं करती थी। सम्भव है, कष्टकी अधिकताके कारण इस समय उसका मस्तिष्क विशेष क्रियाशील न हो। कुछ देर पश्चात् पुनः माँसे पूछकर देखा जाय।'

ऐसा सोचकर उन्होंने कहीं भी सूचना नहीं दी। कुछ घंटों बाद ११ बजेके लगभग गुरुजी पुनः माँके चरणोंमें उपस्थित हुए और उसके सामने अपने कार्यक्रमकी बात रखकर प्रवासपर जानेकी अनुमति माँगी। माँने स्नेहसे गुरुजीकी ओर देखा और मन्द स्मितके साथ कहा—'हाँ, जा बेटा ! अपना कर्तव्यपालन कर।' कुछ रुककर माँ पुनः बोली—'बेटा ! मनुष्यका जीवन-मरण किसीके रहने, न रहनेपर अवलम्बित नहीं होता।'

आस-पास खड़े सभी व्यक्तियोंकी आँखें भर आयीं कि भीषण कष्टकी स्थितिमें भी माताजी किस प्यारके साथ अपनी इकलौती संतानको अपनेसे पृथक् जानेकी अनुमति दे रही है। इतना ही नहीं, माताजीने अपना काँपता हुआ हाथ गुरुजीके मस्तकपर रख दिया। गुरुजीने माँको प्रणाम किया और प्रवासपर जानेके लिये वे कक्षसे बाहर आ गये। मातृस्नेहसे उनकी आँखें भी झर रही थीं।

(२)

सेवाका स्वरूप

"सेवा" शब्द ही एक ऐसे आध्यात्मिक पथकी ओर संकेत करता है, जहाँ अहंकार तथा प्रतिदानका आत्यन्तिक अभाव हो और ऐसी सेवा साधना बनती है—साध्यकी ओर ले चलती है। सेवा जब साधनाकी पद्धतिका रूप धारण करती है, तब अर्चनाकी भावनाके साथ उसका एकत्व हो जाता है। विश्वरूपमें विराजित प्रभुने हमें अवसर दिया कि हम उनके कुछ काम आ सके—इस विचारसे हृदय द्रवित हो उठता है, न कि प्रतिदानकी आशामें अपूर्णतासे रोषकी रेखा हृदयको क्षुभित कर देती है। प्रतिदानकी कामना तो बहुत आगेकी वस्तु है। सेवाभिमान ही सेवाको साधना-पद्धति बनने नहीं देता। वास्तविक सेवामें यह भाव रहता है—हमारे तन-मन-धन—किसीका भी उपयोग कर सेवा लेनेवालेने हमें उपकृत किया है—कण-कणमें विराजित प्रभुने हमपर अमित कृपाकर अपनी अर्चनाका हमें अवसर दिया है—हम तो सर्वथा अयोग्य हैं।

श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा प्रतिपादित सेवाकी यह विलक्षण परिभाषा उनके जीवनका स्वरूप थी। अपने दैनिक व्यवहारमें वे जब भी किसीकी सेवा करते, तब सेवा लेनेवाला उपकृत नहीं होता था; उपकृत होते थे श्रीभाईजी। श्रीभाईजीसे जिन्होंने एक दिन सेवा ग्रहण की थी, किंतु आज जो स्वस्थ एवं सम्पन्न अवस्थामें हैं, ऐसे एक सम्भ्रान्त व्यक्तिने कुछ ही दिनों पहले—श्रीभाईजीके लीलालीन होनेके पश्चात्—यह घटना रुद्ध-कण्ठसे मुझे सुनायी थी। उनके नेत्रोंमें जल था, हिचकियोंके कारण शरीरमें कम्पन तथा अतीतकी स्मृतियाँ उनके हृदयतलको झकझोर रही थीं।

"करीब १२-१३ वर्ष पहलेकी घटना है—रोग तथा अभावने मुझे चारों ओरसे घेर लिया। सफलतापूर्वक संसार मुझे तिरस्कृत, अपमानित, उपेक्षित मानने लगा था। रोग अभावको बढ़ा रहा था, अभाव रोगका पोषक था। रोग भी साधारण नहीं, दमा—जरा-सी दूर चलनेमें भी साँस फूलने लगती थी; कहीं भी—थोड़ी दूर भी जाना पड़ता तो मार्गमें कई जगह रुक-रुककर। आयके सभी साधन समाप्त हो चुके थे। उद्यम कर नहीं पाता था, सहायता कोई करनेवाला था नहीं। परिवारवाले भी उपेक्षा करते। जीवनसे निराशा हो चुकी थी मुझे। जीना दुःखद था, मृत्युकी कल्पना सुखद थी। मृत्यु कहीं गङ्गातटपर शान्तिके साथ हो—इस इच्छाने स्वर्गाश्रम जानेके लिये प्रेरित किया। मैंने अपनी इस इच्छाको परिवारवालोंके सामने व्यक्त किया। अविलम्ब प्रसन्नताके साथ स्वीकृति मिल गयी; घरवालोंपर तो बोझ ही था। सर्वथा असहाय, निराश्रित, रुग्ण अवस्थामें मैं स्वर्गाश्रम पहुँचा। 'गीताभवन'में स्थान भर चुका था; किसी तरह हाथ-पैर जोड़नेपर 'परमार्थ-निकेतन'में स्थान मिला। तनसे अशक्त, मनसे निराश, धनसे रहित, मैंने पतित-पावनी गङ्गामें जल-समाधि लेनेका निश्चय-सा कर लिया था। तभी अचानक किसीसे ज्ञात हुआ कि 'भाईजी आये हुए हैं।' 'कल्याण' का पुराना प्रेमी था—भाईजीके प्रति अगाध श्रद्धा थी; सोचा—'क्यों न एक बार उनके सामने रोकर अपने मनको हल्का कर लूँ। वे तो सब भाँति समर्थ हैं; सम्भव है, मेरे लिये भी कुछ कर दें।' मनके निश्चयको क्रियारूप भी दे ही दिया मैंने।

'कहाँसे आये हैं?'—कई व्यक्तियोंके बीचमें बैठे हुए श्रीभाईजीने पूछा।

इतनी दूर चलकर आनेके कारण बुरी तरह हाँफ रहा था; मैंने अटकते हुए कहा—'कल······ही······कल······कत्तेसे······आया······हूँ।'

मेरी स्थिति, बोलनेके ढंगको देखकर भाईजी शायद समझ गये; उन्होंने पुनः पूछा—'आपका स्वास्थ्य तो ठीक है न? आप इतना हाँफ क्यों रहे हैं?'

स्नेहसे सना स्वर सुनकर हृदय भर आया, नेत्रोंने उत्तर दिया—कण्ठ रुद्ध हो गया।

'आइये, भीतर बैठ जायँ'—यों कहकर वे उठ खड़े हुए, मैंने भी अनुगमन किया।

'निःसंकोच कहिये, क्या बात है? भगवान्‌के मङ्गलमय विधानपर विश्वास रखिये'—विश्वासकी गरिमा लिये श्रीभाईजीका स्वर कक्षमें गूँज उठा।

रोते-रोते मैंने अपनी सम्पूर्ण स्थिति श्रीभाईजीके सामने स्पष्ट कर दी। बड़ी ही सहानुभूति तथा धैर्यके साथ उन्होंने पूरी बातको सुना—बीचमें एक-दो बार किसीने कक्षमें आनेका प्रयास भी किया, पर श्रीभाईजीने हाथसे संकेत कर उन्हें रोक दिया।

'आत्महत्या करना पाप ही नहीं महापाप है। इससे दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता, वरन् यह नवीन भयानक दुःखोंको निमन्त्रण देना है। आत्महत्या करनेसे प्रेत-योनि प्राप्त होती है, उस योनिमें प्राणीको भीषण कष्ट उठाने पड़ते हैं। कर्मोंसे छुटकारा तो उनको भोगकर समाप्त कर देनेपर ही मिलता है। आप भगवान्‌की कृपापर विश्वास कीजिये; भगवान् सर्वसुहृद् हैं; वे निश्चय ही आपकी प्रार्थना सुनेंगे और आपके कष्टका निवारण होगा। कल मैं गीताभवनके सत्सङ्गके बाद आपके पास आऊँगा; आप उस समय वहीं रहियेगा।'

भाईजीके स्नेह, कृपा, महानतासे हृदय अभिभूत हो उठा था। मैं धीरेसे उनके कक्षसे बाहर निकल आया और कलकी प्रतीक्षा करने लगा—वे मेरेसे मिलनेके लिये 'स्वयं' मेरे कमरेमें आयेंगे।

'क्यों वैद्यजी आये थे क्या?' दूसरे दिन मेरे कमरेमें प्रवेश करते हुए श्रीभाईजीने मन्दस्मितके साथ पूछा।

'हाँ! आये थे; दवा लिखकर भी गये हैं, पर······मैंने मँगवायी नहीं।'

"लाइये कागज मुझे दे दीजिये; मैं मँगवा दूँगा। भोजन आप 'गीता-भवन'के भोजनालयमें कर लिया करें। और हाँ, दूध भी दोनों समय आपके पास पहुँच जाया करेगा।"

मैंने संकोचके साथ कहा—'मुझे आपसे कुछ कहना है।'

'बोलिये, क्या बात है।'

'नहीं, कोई ऐसी बात नहीं है; वैसे मैं अकेलेमें कहना चाहता था।' मैंने श्रीभाईजीके पीछे खड़े दो-तीन व्यक्तियोंकी ओर देखते हुए कहा—

'ठीक है, ठीक है, मैं कल फिर आऊँगा, तब बात हो जायगी; लाइये, वह कागज दीजिये। आज मैं जरा जल्दीमें हूँ।' श्रीभाईजीने उठते हुए कहा।

मैंने औषध-पत्र श्रीभाईजीके हाथपर रखते हुए अत्यन्त संकोचके साथ कहना चाहा—'बात यह है कि मेरे पास.....'

'आज एक बहुत आवश्यक काम है, कल बात करूँगा ।'—यह कहते हुए श्रीभाईजी कक्षसे बाहर निकल गये ।

मेरी बड़ी विचित्र स्थिति थी, कलका प्रेम—आजकी उपरामता;—एक अन्तर्द्वन्द्वका आरम्भ हो गया हृदयमें । कैसे कहूँगा कि मेरे पास दवाके, दूधके यहाँतक कि अपने भोजनके पैसे भी नहीं हैं । वे क्या सोचेंगे, क्या उत्तर देंगे ? आजकी उपरामताने मेरे हृदयमें और भी विचार उत्पन्न कर दिया था । इन्हीं सब विचारोंमें पड़ा मैं अपनेको धिक्कारने लगा;—पर था विवश, निरुपाय; बड़ी ही करुण स्थिति थी मेरी ।

दूसरे दिन उसी समय श्रीभाईजी आये, पर आज उनके साथ अन्य कोई नहीं था । मेरे मनमें भी निश्चिन्तता-सी हुई—'चलो, आज अपनी स्थितिको कहनेमें संकोच कम होगा ।'

'दवा मिल गयी थी न—आपने लेनी आरम्भ कर दी होगी ।'—श्रीभाईजीने सहज स्नेहिल स्वरमें पूछा ।

'हाँ, मिल गयी'—छोटा-सा उत्तर दे मैं पुनः ऊहापोहमें डूब गया—कैसे कहूँ ? क्या कहूँ । मैं यह सब सोच ही रहा था कि श्रीभाईजीने मन्द स्वरमें कहा—'आपको जो कुछ भी कहना हो, वह बादमें कह दीजियेगा; पहले मेरी बात सुन लीजिये ।'

इतना कहकर उन्होंने एक लिफाफा निकाला और उसे मेरे हाथमें पकड़ाते हुए बोले—'इसे रखिये, इसमें कुछ रुपये हैं । जो कुछ भी व्यय हो, इसमेंसे कर दीजियेगा । औरदेखिये, मैं आपसे अत्यन्त विनयके साथ प्रार्थना करता हूँ—भगवान्‌के नामपर आपसे भीख माँगता हूँ कि आप यह बात किसीसे मत कहियेगा और न इसके लिये मनमें तनिक भी संकोच ही अनुभव कीजियेगा । मैं आपका भाई हूँ । आप मेरे हैं, मैं आपका हूँ । मैं वैद्यजीसे भी कह दूँगा कि औषध तथा परीक्षणमें जितना खर्च लगा हो, वे आपसे ले लें । अच्छा, अब मैं चलता हूँ; फिर आऊँगा ।'—यों कहते हुए वे स्नेहसे मेरे मस्तकपर हाथ फेरकर कक्षके बाहर निकल गये ।

मैं अवाक् बना सोच रहा था—'श्रीभाईजीकी प्यारसे सनी सेवा कितनी गुप्त, कितनी मूक तथा कितनी अज्ञात थी ! प्रतिदानकी तो कौन कहे, सम्मानकी इच्छासे भी दूर—बहुत दूर ।' नेत्र झरते रहे; मैं सोचता रहा, सेवा तथा प्यारका स्वरूप यही है !

'श्रीभाईजीका एक नगण्य कृपापात्र'

(३)

जाको राखे साइयाँ मारि सकै नहिं कोय

यह घटना प्रायः अठारह वर्ष पूर्वकी है; यह दिल्ली-अहमदाबाद मेलके तृतीय श्रेणीके डिब्बेमें रिवाड़ी तथा अलवरके बीचमें अर्धरात्रिके समय घटी थी । उस समय मैं पश्चिमी रेलवेके बाँदीकुई डिस्ट्रिक्टका डिस्ट्रिक्ट मैकेनिकल इंजीनियर था ।

एक सम्भ्रान्त दम्पति दिल्लीसे उक्त मेलमें सवार हुए । पत्नी गर्भवती थी । पूरे नौ मास बीत चुके थे और किसी भी समय बालकके होनेकी सम्भावना थी; किंतु अचानक एक अनिवार्य परिस्थितिके कारण दोनोंको दिल्लीसे अपने घर राजस्थान जाना पड़ रहा था ।

मेल गाड़ी दिल्लीसे यथासमय अहमदाबादके लिये छूटी । डिब्बेके मुसाफिरोंने महिलाकी अवस्थाको समझते हुए, उसे लेटनेका स्थान दे दिया । अर्धरात्रिके समय गाड़ी रिवाड़ी पहुँची तथा वहाँसे अलवरके लिये रवाना हुई । कुछ देर पश्चात् महिलाके वेदना आरम्भ हुई और क्रमशः बढ़ने लगी । वह लघुशङ्कासे निवृत्त होनेके लिये उठकर शौचालयमें गयी । वह संडासपर लघुशङ्काके लिये बैठी कि प्रसव-वेदना तीव्र हो गयी और हठात् शिशु माताकी कोखसे बाहर आ गया । किसीके कोमल हाथोंमें आश्रय न पानेके कारण शिशु संडासपर गिरा, झटकेसे नाल छिन्न हो गया और वह संडास-की नालीद्वारा रेलवे लाइनके बीचमें स्लीपरपर जा गिरा । भगवान्‌की लीला विचित्र है; उन्हें शिशुको जगत्‌में रखना था । शिशु स्लीपरसे उछलकर पटरियोंके बीचमें एकत्रित हुई बालूपर स्थापित हो गया ।

अलवरके आस-पासके जंगलोंके मध्य अर्धरात्रिके समय एक निराश्रित शिशु रेलवे लाइनके बीच पड़ा हुआ रुदन कर रहा था कि कोई उसके रोनेकी आवाज सुनकर उसकी रक्षा-के हेतु आये, पर........।

महिला प्रसव होनेकी पीड़ाके कारण कुछ समयके लिये संज्ञाहीन हो गयी थी । उसे शिशुके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात नहीं था । जब उसे होश आया, तब उसने अपने कपड़ोंको रक्तसे सने हुए पाया । पीड़ा कुछ कम हो चुकी थी; उसे ज्ञान

हुआ कि शिशु जन्म ले चुका है। अब उसने शिशुकी खोज आरम्भ की। छोटा-सा शौचालय, उसमें केवल एकमात्र खुला हुआ पृथ्वीकी ओर मलमूत्र जानेका द्वार और वह भी खाली। उसे समझते देर नहीं लगी कि नवजात शिशु, इस मल-मूत्रकी नालीद्वारा पृथ्वीपर रेलवे लाइनके बीच गिर पड़ा है। माताका हृदय वेदनासे भर आया; नेत्रोंसे झर-झर अश्रु बहने लगे। उसके हृदयमें विचार उठा—'बेटा! अगर तुझे मुझसे बिछुड़ना ही था तो कम-से-कम एक क्षणके लिये अपना मुखड़ा तो दिखला दिया होता; इतना समय तो दिया होता कि एक बार तुम्हें अपने हृदयसे लगाकर मैं प्यार कर लेती। विधाताने माँ बनाया, पर यह ज्ञात न होने दिया कि तुम पुत्र थे या पुत्री। हाय! भगवान्! यह कैसी लीला है!!' महिला फूट-फूटकर रोने लगी; उसने सिरपर हाथ दे मारा; वह अपने आराध्य देवी-देवताओंसे नवजात शिशुकी रक्षाके लिये प्रार्थना करने लगी।

महिलाका करुण क्रन्दन सुन उसके पति तथा डिब्बेके अन्य यात्री—सब जग गये। शौचालयका द्वार खुलवाया गया तथा महिलाको अर्ध-चेतन अवस्थामें बाहर लाकर लिटाया गया। उसके वस्त्र रक्तसे भीगे हुए थे, वेणी खुली हुई थी, नेत्रोंसे अश्रुधारा बह रही थी। सभीको यह निश्चय हो गया कि शिशुका जन्म हो गया है। शौचालयमें शिशुको खोजा गया, पर वहाँ उसका पता नहीं लगा। घबराकर एक साथी मुसाफिरने जंजीर खींच दी। गाड़ीकी गति मन्द हुई तथा कुछ दूर चलकर गाड़ी रुकी। पूछते-पूछते गार्ड महोदय उस डिब्बेपर आ पहुँचे। उन्हें घटनाका परिचय दिया गया। महिला भी कुछ होशमें आ गयी थी। उससे कुछ प्रश्न पूछे गये; उसने कष्टके साथ जो शब्द कहे, उससे यह अनुमान लगाया गया कि शिशु करीब तीन-चार स्टेशन पहले गिरा है। गाड़ी इतनी दूर वापस तो नहीं ले जायी जा सकती, फिर भी गार्ड महोदय बड़े सहृदय व्यक्ति थे। उन्होंने गाड़ीको पिछले स्टेशनतक वापस ले चलनेका आदेश दिया और आगेके लिये निर्णय अधिकारियोंपर छोड़ा।

गाड़ी पिछले स्टेशनपर पहुँची। वहाँके स्टेशनमास्टरको पूरी घटना बतायी गयी। स्टेशनमास्टरने भी बड़ी सहानुभूति प्रदर्शित की। उन्होंने तत्काल कंट्रोल आफिसर बाँदीकुईसे टेलीफोनद्वारा सम्पर्क किया तथा प्रार्थना की कि 'मेलको चार स्टेशन वापस ले जानेकी आज्ञा दी जाय।' सेक्सन कंट्रोलर स्वयं यह निर्णय नहीं ले सकते थे; अतएव उन्होंने चीफ कंट्रोलरसे आदेश माँगा। वे भी यह आदेश देनेका साहस नहीं कर सके। बाँदीकुईके उच्च अधिकारी दौरेपर थे। विवशतः उन्होंने अजमेरके उच्च अधिकारियोंसे आदेश प्राप्त करनेकी कोशिश की, किंतु संयोगकी बात, अजमेरके उच्च अधिकारी भी दौरेपर थे। हारकर चीफ कंट्रोलरने मुझे टेलीफोन किया और सारी समस्या बताकर मेरी अनुमति माँगी कि 'मेलको तीन-चार स्टेशन वापस ले जाया जाय।' रेलवेके नियमोंके अनुसार साधारणतः गाड़ी एक स्टेशनसे ज्यादा वापस नहीं ले जायी जा सकती। चूँकि घटनाएँ सर्वदा घटेंगी, यदि उनके लिये गाड़ीको रोका जाय तो उसका समयपर चलना असम्भव हो जायगा। परंतु यहाँपर एक शिशुके जीवनका प्रश्न था। मेरे हृदयमें ऐसी प्रेरणा हुई कि 'गाड़ीको वापस ले जानेकी अनुमति दी जाय' और मैंने वैसा आदेश दे दिया।

आदेश पाते ही मेल गाड़ीको वापस ले जाया गया। चाँदनी रात थी, उजाला था तथा आस-पासकी वस्तुएँ भली-भाँति दिखायी पड़ रही थीं। गार्डके डिब्बेमें शिशुके पिता और एक-दो मुसाफिर थे। दो स्टेशन वापस जानेके बाद उन्हें एक साधुओंकी टोली मिली, जो अलवरकी ओर जा रही थी। साधु कीर्तन कर रहे थे तथा गा रहे थे—

जाको राखे साइयाँ, मारि सकै नहिं कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग वैरी होय॥

टोलीके साधु हाथ हिलाकर गाड़ीको रोकनेके लिये संकेत कर रहे थे। गार्डने उनका संकेत पाकर गाड़ीको रोका।

गाड़ी रुकनेपर गार्ड, शिशुके पिता तथा अनेकों यात्री नीचे उतरे एवं साधुओंसे पूछने लगे—'क्या आपने रास्तेमें आते हुए किसी नवजात शिशुको रेलवे लाइनपर पड़ा हुआ देखा है?'

साधुओंने एक साथ उत्तर दिया—'जी हाँ, हमलोग रिवाड़ीसे पैदल रेलवे लाइनके पासकी पगडंडीपर होकर जा रहे हैं। रिवाड़ीसे चलनेके बाद कुछ दूरीपर हमने एक शिशुका रुदन सुना। हमारा ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। मनमें प्रश्न उत्पन्न हुआ—'अर्धरात्रिके समय इस जंगलमें यह किस बालकका रुदन है? क्या आस-पासकी बस्तीकी किसी पथ-भूली महिलाने अपने शिशुको जंगलमें जानवरोंके हाथ मृत्यु पानेके लिये डाल दिया है? क्या किसी निर्दयी व्यक्तिने किसी माताके शिशुको गाड़ीसे गिरा दिया है?' फिर विचार आया

जो भी हो, यह हमारा कर्तव्य है कि हम इसकी रक्षा करें ।' हमलोग शिशुकी आवाजकी ओर बढ़े । वहाँ पहुँचनेपर हमने देखा कि एक नवजात शिशु रेलवे लाइनोंके बीचमें पड़ा हुआ है । हमने उसे उठा लिया और अपने कमण्डलुके जलसे उसको धोकर अपनी चादरमें लपेट लिया । सोचा था कि अलवर पहुँचकर किसी गृहस्थको सौंप देंगे, जो उसका लालन-पालन कर देगा । पर भगवान्‌की लीला; आपलोग मिल गये हैं तथा बालकके सम्बन्धमें पूछ रहे हैं । देखिये, यह बालक है ।'—यों कहते हुए उन्होंने अपनी गेरुआ चादरमें लिपटे हुए शिशुको उसके पिताकी गोदमें दे दिया । बालक रुदन करने लगा । बालकको अपनी गोदमें पाकर पिताके हृदयमें जो आनन्दकी लहरें उठीं, उनका वर्णन होना सम्भव नहीं । पिताकी आँखोंसे आनन्दाश्रु झरने लगे । रुद्ध-कण्ठसे उसने साधुओंसे कहा—'भगवान्‌को तथा आप सबको, जिन्होंने इस शिशुकी रक्षा की, मैं कोटि-कोटि धन्यवाद देता हूँ ।'

पिताने शिशुको ले जाकर उसकी माताकी गोदमें दिया तो वह पूर्ण होशमें आ गयी और बड़ी देरतक बच्चेको अपनी छातीसे चिपकाये रही । उसके नेत्र भी झर रहे थे ।

गार्ड महोदय, साधुओं तथा यात्रियोंका हृदय भी भर आया । सब लोग गाड़ीमें बैठ गये और गाड़ी अहमदाबादकी ओर चल पड़ी । सबके मुखसे स्वर फूट पड़ा—'अशरण-शरण भगवान्‌की जय !'

—शरच्चन्द्र बंसल

(४)

कथनी-करनीकी एकरूपता

श्रीअमृतलाल सुन्दरजी पढ़िआर गुजरातके आदर्श गृहस्थ-संत थे । गुजराती भाषामें आपने ८—१० उत्तम ग्रन्थोंकी रचना की थी, जैसे—'स्वर्गनो खजानो', 'स्वर्गनुं विमान', 'स्वर्गनी चावी' आदि । वे धार्मिक प्रवचन भी करते थे । वे एक बार बंबईसे भावनगर गये । वे वहाँके प्रख्यात विद्वान् श्रीमणिशंकरजी 'कान्तकवि'के अतिथि हुए । उसी समय कान्तकविके यहाँ गुजरातके महाकवि नानालालजी भी आये थे ।

भावनगरके महाराजा भावसिंह अत्यन्त बुद्धिमान्, उदार एवं सुयोग्य व्यक्तियोंके पारखी थे । उन्होंने सोचा—'यदि श्रीपढ़िआरजी-जैसे परम त्यागी एवं आदर्श गृहस्थ-संतको समुद्र-तट-स्थित 'गोपनाथ'स्थानका महन्त बना दिया जाय तो निश्चय ही उस संस्थाके पारमार्थिक उद्देश्यकी पूर्ति होगी ।'

'गोपनाथ'का सुप्रसिद्ध स्थान उस समय भावनगर-राज्यके अधिकारमें था और उसके अधिकारीके पदके लिये झगड़ा चल रहा था । भावनगर-नरेशने अपनी इच्छा श्रीमणिशंकरजीके सम्मुख व्यक्त की । श्रीमणिशंकरजी उस समय भावनगर-राज्यके विद्याधिकारी थे । वे इस प्रस्तावको सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए । महाकवि नानालालजी भी इस प्रस्तावसे सहमत हो गये ।

श्रीपढ़िआरजीसे वार्तालाप होने लगा । महाकवि श्रीनानालालजीने उनके सम्मुख यह प्रस्ताव रखते हुए कहा—'वह स्थान आपके लिये सर्वथा उपयुक्त है । उसके महन्त-पदकी स्वीकृतिसे आपको एकान्त और उच्चपद प्राप्त हो जायगा, साथ ही संस्थाके धनका सदुपयोग भी होगा ।'

महाकविकी बात ध्यानपूर्वक सुन लेनेपर श्रीपढ़िआरजीने तुरंत उनका प्रस्ताव अस्वीकार करते हुए कहा—'वह उच्च महन्त-पद बाह्य दृष्टिसे तो श्रेष्ठ है, किंतु उस गद्दीके लिये दो-तीन ब्रह्मचारी उम्मीदवार हैं और पदके लिये राज्यमें झगड़ा चल रहा है । स्वयं महाराजा और आपलोग भी मुझे महन्त बनाना चाहते हैं, तब तो निश्चय ही मेरे महन्त हो जानेमें कोई बाधा नहीं है; किंतु—'

दोनों महाकवि चकित होकर श्रीपढ़िआरजीका मुँह देखने लगे । श्रीपढ़िआरजीने आगे कहा—'किंतु ऐसी राजसी प्रवृत्ति मुझे तनिक भी पसंद नहीं । गद्दी मिलनेपर व्यवहार बढ़ जाता है और ईश्वरचिन्तनमें बाधाएँ उपस्थित होती हैं । अतएव आपलोग मुझे इस सोनेके पिंजड़ेमें फँसानेका व्यर्थ प्रयत्न न करें ।'

उस समय वहाँ उच्चपदस्थ कुछ सुयोग्य राज्याधिकारी भी थे । श्रीपढ़िआरजीकी त्याग-भावना एवं कथनी-करनीकी एकरूपता देखकर वे मुग्ध हो गये । अत्यन्त विनयपूर्वक उन लोगोंने कहा—'हमलोगोंने पहले आपकी 'स्वर्गनो खजानो' आदि सुन्दर पुस्तकें तो पढ़ी थी, किंतु आज आपके प्रत्यक्ष दर्शन कर तथा आपकी कथनी-करनीकी एकरूपता, त्याग-वृत्ति एवं भगवन्निष्ठाका परिचय प्राप्तकर हम कृतार्थ हुए । जिस तपःपूत लेखक या उपदेशकका इतना त्यागमय जीवन हो, उसके ही ग्रन्थोंके पढ़नेसे मनुष्यको वास्तविक आध्यात्मिक लाभ प्राप्त हो सकता है ।'

श्रीपढ़िआरजी अपनी प्रशंसाके शब्द सुनकर नतमस्तक थे ।

—मङ्गल

(५)

देवपुरुष

कुछ दिनों पूर्व अहमदाबादसे बड़ौदा जाती हुई लोकल

गाड़ीसे मैं नड़िआद जा रहा था। मेरे सामनेकी सीटपर बैठे हुए दो देहाती किसान परस्पर बातें कर रहे थे। एक किसानने बताया—

"हमारे गाँवमें पचपन वर्षके एक पटेल किसान रहते हैं। उनका नाम है—पुरुषोत्तमदास; किंतु गाँवके लोग उन्हें 'पशा चाचा'के नामसे पुकारते हैं। 'पशा चाचा' इतने दयालु एवं उदारधर्मी हैं कि लोग उन्हें देवपुरुष—भगवान्‌के अपने व्यक्तिके रूपमें देखते हैं। किसीके दुःख-दर्दको सुनकर वे आधी रातको भी उठकर उसके घरपर पहुँच जाते हैं और उपकार करनेका लेशमात्र अभिमान भी उन्हें कभी नहीं आता।

"पाँच वर्ष पूर्वकी बात है; हमारे गाँवके मंगलदास-नामक युवक किसानका निधन हो गया। उसके परिवारमें अकेली पत्नी बच गयी। एक बीघेका छोटा-सा खेत ही उसकी आजीविकाका एकमात्र साधन था। गाँवके रिवाजके अनुसार उधर पतिके निधन होनेपर पत्नी एक वर्षतक घरसे बाहर नहीं निकलती। उन दिनों वैशाख-मास चल रहा था। खेतमें हल चलाना आवश्यक था। बिना हल चलाये वृष्टि होनेपर भी बुआईका होना असम्भव था। विधवाके नजदीकके सगे-सम्बन्धी कोई थे नहीं। दूरके सम्बन्धमें एक-दो व्यक्ति थे भी, किंतु उनसे विशेष सौहार्दका सम्बन्ध न होनेके कारण विधवाकी मदद करनेको कोई भी तैयार न हुआ।

"पशा चाचाका खेत विधवाके खेतके समीप ही था। उन्होंने देखा कि 'बरसातकी मौसम नजदीक आ गयी है, पर मंगलदासका खेत बुआईके योग्य नहीं है। बिना हल चलाये बुआई होगी तो अच्छा धान कैसे पैदा होगा?'

"अपने खेतसे निकलकर पशा चाचा सीधे ही उस विधवाके घर जा पहुँचे। विधवाने अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे अपना हाल सुनाया। आश्वासन देते हुए चाचा बोले—'बेटी! चिन्ताकी कोई बात नहीं है; तुम्हारे खेतसे थोड़ी ही दूरीपर मेरा दो बीघेका खेत है। तुम्हारे खेतका तमाम काम-काज मैं सँभाल लूँगा।'

"उसके बाद तो पशा चाचाने उस विधवा बहनके खेतमें हल चलाकर जमीनको खेतीके योग्य बना दिया और बरसात होते ही बीज बो दिये। खेतका तमाम काम-काज वे ही करने लगे। कपासकी खेती थी और फसल भी अच्छी हुई। मजदूरोंको लगाकर चाचाने कपास एकत्रित करा लिया और उसे बेचकर वे उस विधवा बहनके घरपर जा पहुँचे। ७५०) रु० उसके सम्मुख रखकर वे बोले—'यह है तेरे खेतकी उपज!'

"विधवा बहनने पशा चाचाके प्रति आन्तरिक आभार प्रकट किया और बीज, मजदूरी आदिके दो सौ रुपये उन्हें देनेका प्रयत्न किया। किंतु चाचाने उत्तर दिया—'बेटी! मेरा खेत दो बीघेका है और तुम्हारा खेत है एक बीघेका; सो मैंने अपने खेतको तीन बीघेका समझाकर ही खेतीका तमाम कार्य करा लिया है। यह शरीर है ही किस कामका; एक अनाश्रिता बहनकी सेवा इससे हो जायगी तो यह पवित्र हो जायगा।'

"घूँघटमें छिपाये हुए मुँहसे विधवा बहन प्रकटरूपसे कुछ बोल न सकी; उसके नेत्रोंसे अश्रु-बिन्दु टपक रहे थे। उसकी आत्मा पुकार कर रही थी—'सचमुच पुरुषोत्तम चाचा देवपुरुष—भगवान्‌के अपने व्यक्ति हैं।'"

गाड़ी नडिआद स्टेशनपर खड़ी हो गयी। मैंने देहातके उन अनाथ बहनकी मूक सेवा करनेवाले देवपुरुषकी गाथा सुनी और उन्हें मानसिक प्रणाम करके उतर पड़ा।

'जनकल्याण'　　　　'अदम'

(६)

नाम-जपका अद्भुत प्रभाव

श्रीराजेन्द्रप्रसादजी पहले मोतीहारी (बिहार) की जिला-जेलमें आफिस इंचार्ज थे। उन्हीं दिनों उन्होंने 'श्रीराम-नाम-बैंक'की सदस्यता ग्रहण करके—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस महामन्त्रके जपका व्रत लिया और नियमपूर्वक उसका पालन करते रहे। कुछ वर्ष उपरान्त उनका तबादला दूसरे जिलेकी जेल-आफिसमें हो गया। करीब दो वर्ष पूर्व वे एक दिन अचानक यहाँ पहुँचे। बहुत दिनों बाद उन्हें देखकर हमलोगोंने कुशल-मङ्गल आदि पूछा। हमारे प्रश्नका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—"मैं अपना कुशल सुनानेके लिये ही आपके पास आया हूँ। यहाँसे स्थानान्तरण होनेके बाद भी मैं—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—यह महामन्त्र नित्य नियमपूर्वक जपता रहा और मेरा

दैनिक कार्यक्रम निर्विघ्न चलता रहा। एक दिन अचानक मैं एक विचित्र संकटमें पड़ गया। 'उस समय महामन्त्रका जप यदि मेरी रक्षा नहीं करता तो सचमुच मुझे कोई बचानेवाला नहीं था।

"एक दिन मैं अपने आफिसमें अपने कामपर था। उसी समय एक परिचित सज्जन मेरे पास पधारे। मैं आफिसका काम छोड़कर उनसे बातचीत करनेमें कुछ अधिक तल्लीन हो गया। उसी समय सजा भुगतनेवाले दो कैदियोंको लेकर चार सिपाही आये। मैंने कैदियोंको वहीं आफिसमें बैठनेके लिये कह दिया और सिपाहियोंको आदेश दिया कि वे उनके केसके कागजात लेकर आवें। मेरे मनमें था कि कागज देखकर मैं अभी इन कैदियोंके सम्बन्धमें आवश्यक लिखा-पढ़ी करके इन्हें भीतर जेलमें भेज दूँगा।

"सिपाही कैदियोंको मेरे चार्जमें देकर चले गये। मैं उन कैदियोंकी ओर ध्यान न देकर अपने मित्रसे वार्तालापमें तल्लीन रहा। लगभग १५ मिनट बाद जब हमारा वार्तालाप पूर्ण हुआ, तब मैं यह देखकर सन्न रह गया कि वहाँ बैठे हुए दोनों कैदी हमें असावधान पाकर धीरेसे वहाँसे फरार हो गये थे।

"अब तो मेरे होश उड़ गये। मैंने तत्काल पहरेवालोंको आवाज दी। सभी इस समाचारसे स्तब्ध रह गये। खबर पाकर जेल-अधिकारीवर्ग आफिसमें आ गया। पूछ-ताछके बाद सबको पता चल गया कि मेरे ही चार्जसे दो कैदी भागे हैं। मेरे मुखसे आवाज नहीं निकल रही थी। जेल-अधीक्षकने मुझे मुअत्तल करते हुए मुझपर दो कैदी भगानेका चार्ज लगाया और मुझे बंदी बनानेका हुक्म दे दिया। फिर उन्होंने अपने कई सिपाहियोंको हुक्म दिया कि 'नगरमें चारों ओर उन कैदियोंकी खोज की जाय। हालके भागे हुए कैदी शहरमें ही कहीं छिपे होंगे।' मुझे सम्बोधित करते हुए उन्होंने पुनः कहा—'यदि दोनों कैदी पकड़े नहीं जा सकेंगे तो यह चार्ज आपपर ही लागू होगा तथा आपकी नौकरी एवं जीवन—दोनों बर्बाद हो जायँगे। इस दण्डसे आप बच नहीं पायेंगे।'

"अधीक्षक महोदय चले गये। मेरा मस्तिष्क चिन्ताके भारसे भर गया; कारण, भागे हुए कैदी जल्दी मिलते नहीं। पर अचानक मुझे भगवान्‌की कृपाका स्मरण हो आया और उससे मन कुछ शान्त हुआ। मैंने कैदियोंकी खोजके लिये जानेवाले सिपाहियोंसे प्रार्थना की कि 'जो भाई उनकी खोज कर लायेगा, उसे मैं अपने वेतनमेंसे पाँच सौ रुपये इनाम दूँगा। अतः मुझे संकटसे बचानेका सभीको विशेष प्रयत्न करना चाहिये।'

"सिपाही कैदियोंको खोजनेके लिये चल दिये। मैं घबराया हुआ वहीं बैठकर महामन्त्रका जप करने लगा। मन प्रभुसे अपने बचावके लिये प्रार्थना करने लगा। करीब तीन घंटेतक नाम-जप लगातार चलता रहा; कण्ठ सूख रहा था, फिर भी जप अनवरत चल रहा था। अभीतक कोई सिपाही वापस नहीं लौटा था। तबतक देखता क्या हूँ कि दोनों कैदी जेलकी ओर वापस चले आ रहे हैं। यह देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। उसी समय दोनों कैदी मेरे सम्मुख उपस्थित हो गये और हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाते हुए बोले—'सरकार! हमलोगोंके भागनेका कसूर माफ किया जाय। हजूर! यहाँसे भागकर हम लोग कई मील दूर निकल गये थे; परंतु अचानक हम लोगोंको बड़ा भय अनुभव होने लगा। पैर थर-थर काँपने लगे। ऐसा लगा कि कोई हमलोगोंको भागते हुए देख रहा है। पीछे मुड़कर देखा कि कोई पकड़ने तो नहीं आ रहा है? पर कोई दिखायी नहीं दिया; किंतु हमारे हृदयमें घबराहट बहुत बढ़ गयी। पैर अब आगे पड़ते ही नहीं थे। मनमें यह भी चिन्ता हुई कि भागकर आखिर हम जायँगे कहाँ? अपने घर तो जा ही नहीं सकते; क्योंकि हमपर तुरंत वारंट जारी होगा और हम फिर पकड़ लिये जायँगे। घरवालोंको भी तरह-तरहसे तंग होना पड़ेगा। चलो, वापस चलकर आत्मसमर्पण कर दें। हजूर! अब हम आपकी शरणमें हैं, चाहे मारें या छोड़ें।'

"कैदियोंको इस प्रकार आत्मसमर्पण करते देख मेरे चिन्ताके विचार दूर हो गये। साथ ही भगवान्‌की अहैतुकी कृपाका स्मरण करके हृदय भर आया कि किस प्रकार प्रभु नाममात्रके अपने सेवकके योग-क्षेमका निर्वाह करते हैं—संकटके समय उसकी रक्षा करते हैं! मुखसे निकल पड़ा—भक्तवत्सल भगवान्‌की जय।"

—कृष्णाधार शर्मा

श्रीहरिः

सम्मान्य एवं प्रेमी ग्राहकों-पाठकोंसे नम्र-निवेदन

१—'कल्याण'के ४७वें वर्षका यह ग्यारहवाँ अङ्क है। १२वाँ अङ्क प्रकाशित हो जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। जैसा कि पहलेके अङ्कोंमें सूचित किया गया था, आगामी अर्थात् ४८ वें वर्षका विशेषाङ्क देवाग्रगण्य भगवान् श्रीगणेशकी अर्चनाके रूपमें 'श्रीगणेश-अङ्क'के नामसे प्रकाशित किया जा रहा है।

इस अङ्कमें श्रीगणेश-तत्त्व, उपासना, अनुष्ठान, व्रत, त्यौहार, तीर्थ, उत्सव, प्रतिमा, सम्प्रदाय आदिके सम्बन्धमें विस्तृत, महत्त्वपूर्ण एवं सर्वजनोपयोगी सामग्री रहेगी। साथ ही श्रीगणेशपुराण, श्रीमुद्गलपुराण, श्रीब्रह्मवैवर्त्तपुराण, श्रीशिवपुराण आदि पुराणोंके आधारपर भगवान् श्रीगणेशकी लीला-कथा विस्तारके साथ दी जा रही है, जो बड़ी ही भावपूर्ण एवं मनोहारिणी है। प्रसङ्गानुसार सुन्दर, भावपूर्ण, रंगीन तथा सादे चित्र भी रहेंगे।

२—गतवर्ष 'कल्याण'में बहुत घाटा था। इस वर्ष कागजोंका मूल्य लगातार बढ़ता ही जा रहा है तथा छपाईके अन्य उपकरणोंके मूल्यमें भी बड़ी वृद्धि हो रही है। कर्मचारियोंके वेतन आदि इधर दो-तीन वर्षोंमें बहुत बढ़े हैं। इन खर्चोंके और भी बढ़नेकी सम्भावना है। डाक-खर्च आदि सहित सब जोड़नेपर 'कल्याण'का लागत मूल्य बहुत अधिक होता है। इन परिस्थितियोंमें 'कल्याण'का वार्षिक मूल्य पर्याप्त बढ़ानेकी विवशतापूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी है; परंतु मूल्यमें मात्र दो रुपये वार्षिक बढ़ाये गये हैं। ऐसा करनेसे घाटेमें कुछ कमी होगी। इस सम्बन्धकी सूचनाके साथ मनीआर्डरफार्म १०वें (अक्टूबर, ७३ के) अङ्कमें भेजा जा चुका है। वर्तमान भीषण मँहगाईको ध्यानमें रखते हुए 'कल्याण'के सहृदय ग्राहक इसे सहर्ष स्वीकार करेंगे—यह हमारा विश्वास है।

३—इस वर्ष अजिल्द अङ्कका वार्षिक मूल्य रु० १२.०० (बारह रुपये) तथा सजिल्द अङ्कका रु० १४.०० (चौदह रुपये) है। जो महानुभाव मूल्यवृद्धिकी सूचनाके पूर्व ही अजिल्द अङ्कका रु० १०.०० अथवा सजिल्द अङ्कका रु० ११.५० 'कल्याण'-वर्ष ४८के मूल्य-हेतु भेज चुके हों, उनसे नम्र निवेदन है कि वे रु० २.०० अथवा सजिल्दके लिये रु० २.५० और भेजकर मूल्य-पूर्ति करनेकी कृपा करें।

४—पुराने ग्राहकों तथा इस वर्षसे नये ग्राहक बननेवालोंको रुपये भेजनेमें शीघ्रता करनी चाहिये, कारण विशेषाङ्क सीमित संख्यामें ही छापा जा रहा है। अतः मनीआर्डरद्वारा रुपये अग्रिम भेज करके अपना अङ्क पहलेसे ही सुरक्षित करा लेना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

पंजीकृत, सं० एल्० १७५

चित्तको प्रबोध !

चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः संधाय कोटिद्वयं
तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम् ।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यतां
युक्त्या वा[illegible]न यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम् ॥
पुत्रान् पौत्रमथ स्त्रियोऽन्ययुवतीर्वित्तान्यथोऽन्यद्धनं
भोज्यादिष्वपि तारतम्यवशतो नालं समुत्कण्ठया ।
नैतादृग्यदुनायके समुदिते चेतस्यनन्ते विभौ
सान्द्रानन्दसुधार्णवे विहरति स्वैरं यतो निर्भयम् ॥
काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं केचित्फलं स्वेप्सितं
केचित्स्वर्गमथापवर्गमपरे योगादियज्ञादिभिः ।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां
किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ॥
आश्रितमात्रं पुरुषं स्वाभिमुखं कर्षति श्रीशः ।
लोहमपि चुम्बकाश्मा सम्मुखमात्रं जडं यद्वत् ॥
अयमुत्तमोऽयमधमो जात्या रूपेण सम्पदा वयसा ।
श्लाघ्योऽश्लाघ्यो वेत्थं न वेत्ति भगवाननुग्रहावसरे ॥

(प्रबोधसुधाकर २४८—५२)

अरे चित्त ! चञ्चलताको छोड़कर सामने तराजूके दोनों पलड़ोंमेंसे एकमें सब विषयोंको और दूसरेमें भगवान् श्रीपतिको रख और इसका विचार कर कि दोनोंके बीचमें विश्राम और हित किसमें है ? फिर युक्ति और अनुभवसे जहाँ परमानन्द मिले, उसीका सेवन कर । पुत्र, पौत्र, स्त्रियाँ, अन्य युवतियाँ, अपना धन, परधन और भोज्यादि पदार्थोंमें न्यूनाधिक भाव होनेसे कभी इच्छा शान्त नहीं होती, किंतु जब घनानन्दामृतसिन्धु विभु यदुनायक श्रीकृष्ण चित्तमें प्रकट होकर इच्छापूर्वक विहार करते हैं, तब यह बात नहीं रहती; क्योंकि उस समय चित्त स्वच्छन्द एवं निर्भय हो जाता है । कुछ लोग प्रतिदिन सकाम उपासनासे मनोवाञ्छित फलकी प्रार्थना करते हैं और कोई यज्ञादिसे स्वर्ग और योगादिसे मोक्षकी कामना करते हैं; किंतु यदुनन्दनके चरण-युगलोंके ध्यानमें सावधान रहनेके इच्छुक हमको लोक, इन्द्रिय-निग्रह, राजा, स्वर्ग और मोक्षसे क्या प्रयोजन है ? श्रीपति श्रीकृष्ण अपने आश्रित पुरुषको अपनी ओर वैसे ही खींचते हैं, जैसे सामने आये हुए जड लोहेको चुम्बक अपनी ओर खींचता है । कृपा करते समय भगवान् यह नहीं विचारते कि जाति, रूप, धन और आयुसे यह उत्तम है या अधम, स्तुत्य है या निन्द्य !

श्रद्धाञ्जलि !

श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरीकी परम पूजनीया माताजीके ब्रह्मलीन होनेसे आध्यात्मिक जगत्की अपूरणीय क्षति हुई है । परम पूजनीया माताजी विश्वभरमें एक विशिष्ट आध्यात्मिक विभूतिके रूपमें समादृत थीं । गीताप्रेस एवं 'कल्याण'-परिवारकी ओरसे इन पंक्तियोंके माध्यमसे हम परम पूजनीया माताजीके श्रीचरणोंपर अपनी भाव-श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं ।

—चिम्मनलाल गोस्वामी